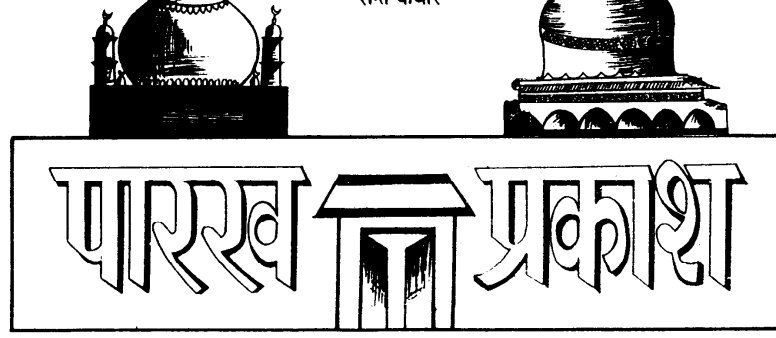




सद्गुरवे नमः

को हिन्दू को तुरुक कहावै,  
एक जिमी पर रहिये

—सन्त कबीर



बस्तू अन्तै खोजै अन्तै, क्योँ कर आवै हाथ।

सज्जन सोई सराहिये, जो पारख राखै साथ॥ बीजक, साखी 246॥

वर्ष 46]

इलाहाबाद, माघ, वि सं 2073, जनवरी 2017, सत्कबीराब्द 618

[अंक 3

## लीन होओ आप अपने में

देखते हैं, जानते हैं, समझते हैं, भूलते हैं। दिन सुनहले खो रहे हैं, धूल के खिलवाड़ में ही।  
जिस हिंडोले पर रहे, फिर फिर उसी पर झूलते हैं॥ 1 ॥ रत्न जीवन जा रहा है, व्यर्थ लालन-लाड़ में ही॥ 9 ॥

ज्ञान का अंबार है, रहनी नहीं, तो ज्ञान कैसा? यह सुनहली स्वप्न की माया, पलक में लुप्त होगी।  
आचरण बदलाव बिन, जीवन है गज स्नान जैसा॥ 2 ॥ मान्यताओं की बनी दुनिया, तुम्हारी गुप्त होगी॥ 10 ॥

हैं मनस्तापों में जलते, राग द्वेष विकार बांधे। क्योँ बिताते हो समय, बदहोश होकर जिंदगी में।  
भक्ति ज्ञान विराग की, कथनी की भारी भार लादे॥ 3 ॥ मोह निद्रा तोड़, लग जाओ गुरु बंदगी में॥ 11 ॥

जिस प्रलोभन से, हमारा चित्त विचलित हो रहा है। याद रक्खो, इस जगत का, एक कण न है तुम्हारा।  
वह स्वर्ण का मृग, सब्ज का बाग क्षण-क्षण खो रहा है॥ 4 ॥ तुम तुम्हारे हो, जांच लो स्वयं का स्थिर सहारा॥ 12 ॥

मोह की अंधी गली में, लात जूते खा रहे हैं। तुम प्रपंच विहीन, शुद्ध स्वरूप चेतन आत्मा हो।  
ताप पाये हैं सदा से, ताप अब भी पा रहे हैं॥ 5 ॥ ब्रह्म हो, शिव हो, खुदा हो, ईश हो परमात्मा हो॥ 13 ॥

जोश में दिन बीतते हैं, होश के दिन कौन होंगे। कल्पनाएं शांत होतीं, शेष तुम ही आप रहते।  
कब खिलेंगे फूल दिल के, कब विषय से मौन होंगे॥ 6 ॥ शेष हक्रबीनी, बक्रा, कैवल्य और अद्वैत कहते॥ 14 ॥

दीनता औ नम्रता, औ शांति का कब राज होगा। दृश्य माया छोड़कर, द्रष्टा स्वयं में शांत होना।  
कब प्रपंच बिसारकर, कल्याण का निज काज होगा॥ 7 ॥ है यही अवरिल भजन, जड़ दृश्य का एकांत खोना॥ 15 ॥

कब तुम्हारी झूठ की, दीवार बहराकर गिरेगी। तुम तुम्हारे हो, तुम्हीं में तुम सदा विश्राम पाओ।  
कब तुम्हारी जिंदगी में, शांति की लहरें फिरेंगी॥ 8 ॥ लीन होओ आप अपने में, कभी आओ न जाओ॥ 16 ॥



## आत्मोन्नति के सोपान

मनुष्य केवल भौतिक पदार्थों का बण्डल नहीं है। मनुष्य शरीर के अंदर एक ऐसा अखण्ड तत्त्व स्थित है, जो भौतिक तत्त्वों से सर्वथा विलक्षण है, उसका नाम चाहे जो रख लिया जाये। यदि मनुष्य निरा भौतिक पदार्थों का बण्डल होता तो शरीर की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने के बाद वह पूर्ण शांत, संतुष्ट और तृप्त हो जाता। परन्तु यह प्रायः सबका अनुभव है कि शरीर की भौतिक आवश्यकताएं पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो जाने एवं बाहर बहुत कुछ भौतिक विकास हो जाने के बाद भी मनुष्य न तो शांत है और न संतुष्ट एवं तृप्त, बल्कि उत्तरोत्तर वह और अधिक अशांत, असंतुष्ट, अतृप्त, चिंतित एवं तनावग्रस्त होता जा रहा है।

निश्चित है कि शरीर की भौतिक आवश्यकताओं से इंकार नहीं किया जा सकता और इसकी पूर्ति के लिए भौतिक विकास की आवश्यकता है इससे भी इंकार नहीं किया जा सकता, परंतु इसके साथ ही दूसरी दिशा को भी समझने की और उस दिशा में भी विकास की आवश्यकता है, इससे भी इंकार नहीं किया जा सकता। और वह दूसरी दिशा है—आध्यात्मिक दिशा। मनुष्य जब तक आध्यात्मिक दिशा में उन्नति नहीं करेगा तब तक भौतिक दिशा में वह चाहे कितनी भी उन्नति क्यों न कर ले उसके जीवन में संतुलन नहीं आयेगा और न वह मानसिक दुखों से छुटकारा पायेगा। भौतिक विकास में सदैव अधूरापन रहेगा, उसका अधूरापन मिटकर उसमें कभी पूर्णता नहीं मिलेगी। पूर्णता तो है आध्यात्मिक विकास में।

उन्नति और अवनति एक दूसरे के विरोधी शब्द हैं। उन्नति का अर्थ है ऊपर की ओर चढ़ना, आगे बढ़ना और अवनति का अर्थ है नीचे की ओर उतरना, पतन।

नीचे की ओर उतरने के लिए सहारा, संबल, आदर्श की आवश्यकता नहीं होती। सहारा, संबल, आदर्श की आवश्यकता होती है ऊपर की ओर चढ़ने, उन्नति करने के लिए, चाहे वह कोई भी क्षेत्र क्यों न हो। ऊपर की ओर चढ़ने एवं उन्नति करने के लिए सोपान (सीढ़ी) की आवश्यकता होती है। बिना सीढ़ी के कोई ऊपर कैसे चढ़ सकता है। आध्यात्मिक उन्नति के लिए जिन सोपानों की आवश्यकता होती है, उनमें से कुछ सोपानों पर यहां हम सद्गुरु श्री विशाल साहेब की एक साखी के आधार पर विचार करेंगे। साखी निम्न है—

इष्ट प्रेम दिक्षा गुरु, सेवा ध्यान प्रसन्न।  
मुदित बितावै राति दिन, गुरु रुख साधि अमन्न॥

(मुक्तिद्वार, सद्गुण शतक)

इष्ट सद्गुरु के प्रति प्रेम, उनसे दीक्षा का ग्रहण, सेवा, प्रसन्नतापूर्वक उनका ध्यान, गुरु के रुख-लक्ष्य को समझकर अर्थात् गुरु-आज्ञा के अनुसार प्रसन्नतापूर्वक कार्य-व्यवहार करना और अमन्न अर्थात् अपने मन की अहंता-ममता का त्याग करके रहना।

पहला सोपान है—इष्ट के प्रति प्रेम। हर व्यक्ति का कोई-न-कोई इष्ट-आदर्श अवश्य होता है और उसके प्रति उसकी आस्था, निष्ठा, श्रद्धा भी होती है। जिसकी जिसके प्रति और जहां आस्था, श्रद्धा, निष्ठा होती है उसका जीवन धीरे-धीरे वैसा ही बनता चला जाता है। कहा भी गया है—यो यच्छ्रद्धः सः एव सः। (गीता 17/3) अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह वैसा ही हो जाता है। क्योंकि यह नियम है कि यदि प्रेमी-श्रद्धालु के मन में अपने प्रिय-श्रद्धेय के प्रति सच्चा प्रेम-श्रद्धा है तो उसके गुण, कर्म, स्वभाव, आचरण, बात-व्यवहार सब कुछ अपने को सुंदर-सुखद जान पड़ते हैं और अपना जीवन-आचरण-व्यवहार भी उसी सांचे में ढलते चले जाते हैं। सद्गुरु श्री विशाल साहेब कहते हैं—प्रेमी के भावै चाल मन, जो प्रेम दिल साँचा रहे।

यदि हम आध्यात्मिक दिशा में उन्नति कर पूर्ण मानसिक शांति-संतोष, प्रसन्नता का अनुभव करना चाहते हैं तो हमारा आदर्श, सहारा कोई आध्यात्मिक

पुरुष ही होना चाहिए क्योंकि आध्यात्मिक दिशा में हमारा पथप्रदर्शन वही कर सकता है जो उस दिशा-क्षेत्र का महरमी हो। ऐसे व्यक्ति को ही संत-सद्गुरु कहा जाता है। इसलिए पहले हमें सच्चे संत-सद्गुरु की खोज करना होगा। इसमें हमें यह ध्यान रखना होगा कि साधु का कपड़ा पहन लेने मात्र से कोई सच्चा संत या सद्गुरु नहीं हो जाता। इन्द्रिय-मनजयी आत्मसंयमी, निर्मल-निर्विकार मन, सब तरह से निष्काम-अनासक्त, वैराग्यवान आत्मलीन व्यक्ति ही सच्चे संत-सद्गुरु हैं या जो इस दिशा में ईमानदारीपूर्वक समर्पित होकर प्रयत्नशील हैं। साधनासंपन्न ज्ञान-वैराग्यवान पुरुष ही संत-सद्गुरु हैं। ऐसे सच्चे संत-सद्गुरु मिल जाने पर हमें उनके प्रति प्रेम-श्रद्धा करना होगा। बिना सच्चे प्रेम-श्रद्धा के योग्य से योग्य संत-सद्गुरु से भी हम न कुछ सीख पायेंगे और न अपना कोई लाभ हो सकेगा। सद्गुरु श्री विशाल साहेब ने कहा है—

*वैराग्यवान के संग बिन, होय नहीं वैराग।  
संगतहुं का फल न मिले, बिन साँचे मन लाग।।*

सच्चे संत-गुरु की खोज आवश्यक इसलिए है कि कहीं हम कच्चे और अयोग्य संत-गुरु में प्रेम कर लिये तो सिवा हानि के लाभ कुछ नहीं होगा, और हो सकता है सच्चे संत-गुरु के प्रति भी हम अश्रद्धा कर बैठें। हर क्षेत्र में जैसे नकली सामान की भरमार है वैसे आध्यात्मिक क्षेत्र में भी नकली और कच्चे साधु, संत-गुरुओं की भी भरमार है। यद्यपि नकली संत-गुरुओं में भी कुछ-न-कुछ अच्छाइयां तो होती ही हैं। यदि उनकी कुछ अच्छाइयों से प्रभावित होकर आप उनसे जुड़ गये, किन्तु आगे चलकर उनके नकलीपन का पता चल गया या उनकी संगति-शरण में रहकर साधना मार्ग में आगे प्रगति नहीं हो रही है, पूर्ण मानसिक शांति-आत्मबोध नहीं मिल रहा है तो जितना उनसे मिला है उतने के लिए उनका आभार मानते हुए उनकी संगति-शरण छोड़कर सच्चे संत-गुरु की खोज करें और जब सच्चे संत-गुरु मिल जायें तब दृढ़तापूर्वक अपने मन को प्रेम-श्रद्धा की डोर से उनके चरणों में बांध दें। क्योंकि बिना सच्चे प्रेम के सच्चे संत-गुरु से भी कोई लाभ न ले सकेंगे।

जिसमें कोई दैहिक-भौतिक स्वार्थ का भाव न होकर विशुद्ध आध्यात्मिक उन्नति, आत्मकल्याण का भाव हो वह प्रेम सच्चा प्रेम है।

यहां यह भय-भ्रम नहीं होना चाहिए कि जिस संत गुरु ने हमें ज्ञान का मार्ग बताया है उनकी संगति-शरण छोड़कर दूसरे संत-गुरु की संगति-शरण में जाने से पाप होगा। हां, सच्चे संत-गुरु की संगति-शरण छोड़कर किसी दैहिक-भौतिक स्वार्थ-कामना की पूर्ति के लिए नकली संत-गुरु की शरण में जाने से तो निश्चित ही पाप होगा, किन्तु नकली-अधूरे संत-गुरु की संगति-शरण छोड़कर सच्चे ज्ञान-वैराग्यवान संत-गुरु की शरण में जाना पाप नहीं किन्तु पुण्य का काम है, क्योंकि किसी संत-गुरु की संगति-शरण आत्मिक कल्याण के लिए स्वीकारी जाती है और यदि वही नहीं हो रहा है, तो उस संगति-शरण को त्यागने में कौन-सा पाप ! वह अंजन किस काम का जिसको लगाने से आंख की ज्योति ही चली जाये—अंजन कहा आँख जो फूटे बहुतक कहीं कहा लो।

झूठे-नकली संत-गुरु के पक्ष-प्रेम को अविलंब छोड़कर सच्चे संत-गुरु के प्रति प्रेम करने का निर्देश करते हुए सद्गुरु कबीर कहते हैं—

*झूठे गुरु के पक्ष को, तजत न कीजे बार।  
द्वार न पावे शब्द का, भटके बारम्बार।।  
साँचे गुरु के पक्ष में, दीजे मन ठहराय।  
चंचल से निहचल भया, नहीं आवे नहीं जाय।।*

खास बात है आध्यात्मिक साधना में आगे बढ़ने के लिए पहला सोपान है—इष्ट के प्रति प्रेम-श्रद्धा। बिना प्रेम-श्रद्धा के हम किसी भी दिशा में उन्नति नहीं कर सकते। लेकिन हमारा इष्ट परोक्ष-काल्पनिक न होकर प्रत्यक्ष होना चाहिए, जिनसे हमें बराबर मार्गदर्शन मिलता रहे और ऐसा इष्ट प्रत्यक्ष निर्मल जीवन संत-सद्गुरु ही हैं। यदि निर्मल जीवन, ज्ञान-वैराग्यवान संत-सद्गुरु के प्रति हमारे मन में सच्चा प्रेम, सच्ची श्रद्धा है, तो उनकी ज्ञान की बातें, उनके जीवन की रहनी हमारे जीवन में भी उतरती जायेंगी और एक दिन हमारा जीवन भी निर्मल हो जायेगा। वह प्रेम सच्चा प्रेम कैसा

और वह श्रद्धा सच्ची श्रद्धा कैसी जिसमें अपने प्रिय-श्रद्धेय के जीवन आचरण का प्रभाव अपने जीवन में न पड़े और प्रिय-श्रद्धेय की शिक्षा के अनुरूप अपना जीवन ढल न सके।

इसीलिए सद्गुरु श्री विशाल साहेब कहते हैं—

*यहि ते सच्चे मीत से, सच्ची करिये प्रीत।*

*और न साथी है यहां, कहर सिन्धु जल तीत।।*

इसलिए सच्चे मित्र, सच्चे इष्ट से सच्चा प्रेम करना चाहिए। इस दुख-समुद्र संसार में ज्ञान-वैराग्य संपन्न संत-गुरु को छोड़कर साधक का कोई और साथी नहीं है जो उसे दुख-समुद्र से पार लगा दे।

सच्चा मित्र वह है जो भौतिक स्वार्थ-कामना से रहित होकर आत्मकल्याण के लिए हमें सहारा देता है और अपने ज्ञान-आचरण से हमें उसी की तरफ प्रेरित करता रहता है। सच्चा प्रेम करने का अर्थ है भौतिक स्वार्थ-कामना से रहित होकर केवल आत्मिक विकास, आत्मकल्याण के लिए प्रेम, सेवा, भक्ति करना। निष्काम, निर्मोह, अनासक्त संत-गुरु ही सच्चे मित्र हैं और सब तरफ से अपने मन को समेटकर एकचित्त होकर न उकताये मन से उनके निर्देशानुसार साधना करना सच्चा प्रेम करना है। इसी में साधक का सर्वतो-भावेन कल्याण है।

दूसरा सोपान है—दीक्षा गुरु! गुरु से दीक्षा ग्रहण करना। दीक्षा का अर्थ है शिष्य का गुरु द्वारा मंत्र या भक्ति का चिह्न कोई वेष ग्रहण करना। प्रश्न हो सकता है कि क्या गुरु द्वारा दीक्षा ग्रहण करने मात्र से शिष्य की आध्यात्मिक उन्नति, आत्मिक विकास हो सकता है? उत्तर है मात्र दीक्षा ग्रहण करने से आत्मिक विकास नहीं होगा, किन्तु आत्मिक विकास तो होगा गुरु की शिक्षा के अनुरूप जीवन आचरण बनाने से। जब गुरु की शिक्षा के अनुरूप जीवन आचरण बनाने से आत्मिक विकास होगा तब दीक्षा की क्या जरूरत? इसलिए कि जिनकी शिक्षा के अनुरूप जीवन आचरण बनाकर हम आत्मिक विकास की दिशा में आगे बढ़ना चाहते हैं उनके प्रति निष्ठा-प्रेम बढ़ाने के लिए। कहीं तो एक ऐसी जगह होनी चाहिए जहां हम अपने अहंकार को झुका सकें, अपने

को समर्पित कर सकें।

अपने भौतिक स्वार्थ, दैहिक वासना की पूर्ति के लिए आदमी न मालूम कहां-कहां अपने को समर्पित करता रहता है, किसकी-किसकी अधीनता स्वीकारता रहता है। वहां समर्पित होने, झुकने में आदमी प्रश्न नहीं करता, प्रश्न करता है वहां झुकने एवं समर्पित होने में जहां उसका सर्वतोभावेन आत्मिक कल्याण होना है, सारे मानसिक क्लेशों से पूर्णतः छुटकारा पाकर मानसिक शांति-संतोष मिलना है। जिसके मन में पूर्ण आध्यात्मिक-आत्मिक उन्नति की पिपासा है उसके लिए आवश्यक है कि वह किसी योग्य संत-गुरु से मंत्र-दीक्षा लेकर उनसे अपना स्थायी संबंध जोड़कर रखे। मंत्र-दीक्षा लेना साधक-शिष्य की आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में रचनात्मक भूमिका का काम करता है। इसलिए आध्यात्मिक उन्नति के लिए साधक का योग्य संत-गुरु से दीक्षा ग्रहण करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। इससे साधक-शिष्य का अपने इष्ट-गुरु से प्रगाढ़ संबंध जुड़ता है।

तीसरा सोपान है—सेवा। सेवा के बिना मनुष्य किसी भी दिशा में उन्नति नहीं कर सकता। सेवा हर क्षेत्र में आवश्यक है फिर आध्यात्मिक उन्नति के लिए तो सेवा की महती आवश्यकता है। कहा भी गया है—सेवा से मेवा मिलता है। जिसने दुनिया में कुछ पाया है तो किसी का होकर और सेवा करके ही पाया है। चित्त-शुद्धि के बिना कोई भी मनुष्य न तो मानसिक शांति-प्रसन्नता का अनुभव कर सकता है और न आत्मिक आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है और चित्त-शुद्धि का प्रबलतम साधन है—सेवा। बिना सेवा के चित्त-शुद्धि हो ही नहीं सकती। इसलिए जो भी मानसिक शांति-प्रसन्नता का अनुभव और आत्मिक विकास करना चाहता है उसे अपनी श्रेणी-शक्ति-योग्यता के अनुसार खूब डटकर सेवा करना चाहिए। पूज्य गुरुदेव श्री अभिलाष साहेब जी कहा करते थे कि वह साधक कैसा जिसका अंग-अंग सेवा के लिए फड़कता न हो। साधक के अंग तो सेवा के लिए फड़कते रहना चाहिए।

कुछ ऐसे साधक होते हैं जो दूसरों से सेवा तो लेना चाहते हैं, परंतु स्वयं किसी की सेवा नहीं करना चाहते। इसके मूल में हैं अहंकार और देह की आरामतलबी। ऐसे साधक अपने को इतना बड़ा मान लेते हैं कि वे किसी के सामने झुकना और विनम्र होना जानते ही नहीं। वे इसमें अपनी हेठाई समझते हैं, जबकि सेवा के लिए झुकना और विनम्र होना प्राथमिक और आवश्यक गुण हैं। ऐसे साधक कभी आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकते। इसी प्रकार जो आरामतलब हैं वे भी सेवा करने से कतराते रहते हैं क्योंकि सेवा करने में परिश्रम करना पड़ता है और आरामतलब आदमी परिश्रम से कोसों दूर रहते हैं। अहंकारी और आरामतलब आदमियों का मन दैहिक भोग-स्वार्थ में डूबा मलिन बना रहता है। उनके लिए तो खाना-पीना, सोना और देह को मोटवाना यही जीवन का एकमात्र उद्देश्य होता है। वे आध्यात्मिक साधना को क्या समझ सकते हैं! ऐसे आदमी भले साधुवेष पहनकर घूमते हों किन्तु आध्यात्मिक साधना से उन्हें कोई लेना-देना नहीं रहता।

किसी भी मत का जो सच्चा साधक है वह समय-शक्ति-योग्यतानुसार खूब डटकर सेवा करता है, क्योंकि उसे पता है कि सेवा के बिना न तो चित्त शुद्ध होगा और न आध्यात्मिक उन्नति होगी। श्री पथिक जी महाराज ने कितना सुंदर कहा है—

*उन्नति का साधन सेवा है, जिससे आत्म शुद्धि होती है।*

*पर लोभी मोही अभिमानी, सेवक पद पाना क्या जाने।*

इतना अवश्य है कि कोई चाहकर भी सबकी सेवा नहीं कर सकता। सेवा अपनी श्रेणी-शक्ति, योग्यतानुसार ही करना चाहिए। हां, सेवा के चक्कर में पड़कर अपने मूल उद्देश्य को भूल नहीं जाना चाहिए। यदि मूल उद्देश्य ही भूल गया तो सेवा किस काम की। साधक को यह ध्यान रखना चाहिए कि जिस संत-गुरु के साहचर्य, संगति, शरण में रहकर वह आत्मकल्याण का काम कर सकता है, जिनसे उसे आध्यात्मिक दिशा में आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा-संबल मिल रहा है समर्पित भाव से यथाशक्ति उनके प्रति सेवापरायण रहे। उनकी सेवा से जी न चुराये।

चौथा सोपान है—ध्यान। ध्यान का अर्थ है मन का

संकल्प-विकल्प रहित पूर्ण मौन निर्विकार हो जाना। ध्यान का उद्देश्य है स्वरूपज्ञान में लवलीनता, स्वरूपस्थिति। परंतु यह तो अंतिम स्थिति है। इस स्थिति तक पहुंचने के लिए अनेक मंजिलों को पार करना होता है। प्रस्तुत प्रसंग में ध्यान का अर्थ है विवेक-वैराग्यवान संत-सद्गुरु का ध्यान करना, उनको अपने चित्त-मन का आलंबन बनाकर उसे एकाग्र करना। विवेक-वैराग्यवान संत-सद्गुरु का ध्यान करने से अपना मन निर्मल होता जाता है। बराबर उनका ध्यान करते रहने से उनके जीवन की दिव्य रहनी-आचरण का प्रभाव अपने जीवन पर पड़ता है और अपना जीवन भी निर्मल होता जाता है और मन देहाभिमान-संसारीभाव से हटकर अंतर्मुख होकर स्वरूप-बोध में स्थित होता जाता है। आध्यात्मिक साधक के लिए निर्मल जीवन विवेक-वैराग्यवान संत-सद्गुरु का ध्यान करना हर प्रकार से हितकर है।

यह नियम है कि जिस व्यक्ति का जो इष्ट-पूज्य होता है जब-जब उसकी याद होती है तब-तब उसका मन प्रसन्नता से भर जाता है। साधक का इष्ट है निर्मल जीवन ज्ञान-वैराग्यसंपन्न संत-सद्गुरु। यदि साधक का मन संसारी चिंतन से हटकर अपने ऐसे इष्ट-पूज्य के ध्यान-चिंतन-स्मरण में लीन रहता है तो उसके लिए इससे अधिक प्रसन्नता की बात और क्या होगी। इसीलिए महर्षि पतंजलि ने अपने योगदर्शन में चित्तवृत्तियों के निरोध के अनेक साधनों में एक साधन वैराग्यवान पुरुषों के ध्यान को भी बताया है— वीतरागविषयं वा चित्तम्। व्यक्ति का मन जिसके ध्यान-चिंतन में ज्यादातर लीन रहता है धीरे-धीरे उसका जीवन उसी के अनुरूप बनता जाता है। यदि साधक ज्ञान-वैराग्य-संपन्न निर्मल जीवन संत-सद्गुरु का ध्यान-चिंतन करता रहेगा, उसका मन उसी में लीन रहेगा तो स्वभावतः उसकी आध्यात्मिक उन्नति होती चली जायेगी।

पांचवां सोपान है—मुदित बितावै राति दिन, गुरु रुख साधि। अर्थात् गुरु के रुख को समझकर गुरु आज्ञा

के अनुसार प्रसन्नतापूर्वक कार्य-व्यवहार करना। जो सच्चा साधक है, आध्यात्मिक उन्नति-आत्मकल्याण जिसका अभीष्ट उद्देश्य है वह प्रसन्नतापूर्वक गुरु आज्ञा का पालन करेगा ही। वह ऐसा कोई काम नहीं करेगा जो गुरु आज्ञा के विपरीत हो। जीवन में किसी-न-किसी की आज्ञा माननी ही पड़ती है, बिना आज्ञा माने कोई रह नहीं सकता, तब गुरु की आज्ञा मानने में कौन-सी कठिनाई है। इसमें तो हर प्रकार से लाभ ही लाभ है।

गुरु आज्ञा का पालन प्रसन्नतापूर्वक होना चाहिए। आधे-अधूरे मन से आनाकानी करते हुए गुरु-आज्ञा का पालन करने से कोई लाभ नहीं होगा। आधे-अधूरे मन से आज्ञा पालन करने से शरीर-मन जल्दी थक जायेंगे, मन में क्षोभ-उद्वेग बने रहेंगे और काम ठीक ढंग से नहीं हो पायेगा। इसके विपरीत प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा पालन करने से जल्दी थकान नहीं आयेगी, मन आह्लादित रहेगा और काम ठीक ढंग से संपन्न होगा। इसलिए जो भी काम करना हो प्रसन्नतापूर्वक आभार मानते हुए करना चाहिए कि मेरे ऊपर गुरु की कृपा है जो उन्होंने मुझे यह सेवा का अवसर प्रदान किया।

प्रश्न हो सकता है कि यदि गुरु कोई गलत काम करने की आज्ञा दे तो क्या उसे भी प्रसन्नतापूर्वक करना चाहिए। उत्तर है सच्चा गुरु शिष्य को कभी ऐसे गलत काम करने की आज्ञा दे ही नहीं सकता जिसमें शिष्य की या समाज की हानि हो। सच्चे गुरु का कोई भौतिक स्वार्थ तो होता नहीं जो वह उसकी पूर्ति के लिए शिष्य को गलत आज्ञा दे। व्यवहार में कभी ऐसा लगता हो कि गुरु की कोई आज्ञा गलत है तो उस संबंध में गुरु से निवेदन किया जा सकता है कि गुरुदेव, आपकी यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही है, कृपया इसे स्पष्ट करें, तो गुरु उस पर स्वयं विचार कर लेंगे।

मुख्य बात यह है कि आध्यात्मिक दिशा में आगे बढ़ने के लिए सच्चे गुरु की आज्ञा का मनसा-वाचा-कर्मणा प्रसन्नतापूर्वक पालन करना। इसके बिना शिष्य कभी आध्यात्मिक सफलता प्राप्त कर ही नहीं सकता।

छठां सोपान है—अमन्न। अमन अर्थात् मन रहित होना। तात्पर्य है इच्छा-कामना, अहंता-ममता से रहित

होना। मनुष्य के बंधन, अशांति का मुख्य कारण है मन का इच्छा-कामना, अहंता-ममता में डूबे रहना। सांसारिक इच्छा-कामना, अहंता-ममता को बनाये रखकर कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नति-शांति-लाभ कर ही नहीं सकता। इच्छा ही तो भवसागर है, जिसमें मनुष्य रात-दिन डुबता-उतराता रहता है “इच्छा करि भवसागर।” जिसने दैहिक स्वार्थ तथा भोगों की कामना का त्याग कर दिया वह भवसागर से पार हो गया। उसको कोई बंधन में बांध नहीं सकता। सद्गुरु विशाल साहेब कहते हैं—जो इच्छा छोड़े फिरे, तेहिको को गहि लीन।

जीवन निर्वाह तो प्रारब्ध-पुरुषार्थाधीन सहज ढंग से होता रहेगा। उसके लिए इच्छा करने की जरूरत नहीं है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह अपने मन के कहे में न चलकर विवेक-वैराग्यवान संत-गुरु के मन को अपना मन बना ले अर्थात् अपनी कोई इच्छा न रखकर उनके निर्देशानुसार कार्य-व्यवहार करे। सद्गुरु श्री विशाल साहेब के शब्दों में—अपने मन को मारि के, वैराग्यवान में लीन। अपने मन में क्षण-क्षण में ना मालुम कैसी-कैसी इच्छाएं उठा करती हैं, मन क्षण-क्षण कुभावनाओं में बहा करता है, परंतु विवेक-वैराग्यसंपन्न संत-गुरु का मन एक आत्मज्ञान-स्वरूपबोध के रंग में रंगा रहता है। वैराग्यवान के मन को अपना मन बनाने का अर्थ है स्वरूपज्ञान के रंग में रंग जाना। सद्गुरु कबीर कहते हैं—

*मन के बहुतक रंग है, छिन-छिन बदले सोय।*

*एक रंग में जो रंगे, ऐसा बिरला कोय।।*

साधक को सोचना चाहिए कि जब एक दिन शरीर ही मिट्टी में मिल जायेगा, तब दूसरा हमारा अपना कैसे हो सकता है, जिसकी अहंता-ममता में पड़कर मैं अपनी आध्यात्मिक हानि करूं। इस प्रकार सोचकर वह मन से सबको उतारकर, सबकी इच्छा-कामना, अहंता-ममता त्यागकर अमन हो जाये। सबको त्यागने के बाद त्यागने वाला जो शेष रह जायेगा वही अपना आपा, निज स्वरूप है। उसमें स्थित हो जाना, आत्मस्थ, स्वरूपस्थ हो जाना ही सारी साधनाओं का फल है। इसके आगे न

कोई मंजिल है न कोई गंतव्य ।

—धर्मेन्द्र दास

# राम रतन धन पायो

(संत मीराबाई का जीवन)

लेखक—देवेन्द्र दास

भक्ति मार्ग में राजस्थान की मीराबाई (1498-1547 ई.) बहुत प्रसिद्ध हैं। वे कृष्ण-भक्त थीं। उनके रचे गीत-भजन जनता में बड़े लोकप्रिय हैं; और भारत के एक बड़े हिस्से—राजस्थान, पंजाब, गुजरात, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, उड़ीसा आदि में गाये जाते हैं। एक बात और ध्यान देने योग्य है—यदि मीरा की भक्ति की चर्चा न की जाये तो भी उन्होंने अपने समय में जिस साहस के साथ परिवार-समाज-राजसत्ता के विरुद्ध दृढ़ता दिखायी, वह अत्यंत प्रेरणाप्रद है। मीरा के जीवन संघर्ष एवं उनकी भक्ति पर निवेदन प्रस्तुत है।

## 1. प्रस्तावना

अ. नाम रहेगा काम से, सुनो सयाने लोय।

मीरा सुत जायो नहीं, शिष्य न मुंड्या कोय।।

(लोक कहावत)

(ऐ सयाने लोगो, सुनो! जैसा काम होगा, जगत में वैसा नाम रहेगा। मीरा ने न तो पुत्र पैदा किया और न कोई शिष्य मूंडा, फिर भी उनकी प्रसिद्धि है। भक्ति ही उनकी पहचान है)

ब. जो मैं ऐसा जानती, प्रीति किये दुख होय।

नगर ढिंढोरा पीटती, प्रीति न करियो कोय।।

—मीराबाई

स. Love is an illness = प्रेम एक रोग है।

हरमन गोएट्जे (1898-1976 ई.) जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान थे। वे लंबे समय तक भारत में रहे। मीराबाई पर हरमन गोएट्जे की एक पुस्तक है जिसमें उन्होंने लिखा है—मीरा ईसा मसीह जैसी हैं : पवित्र, निर्दोष, प्रेममय और परमात्मा में ओत-प्रोत। जैसे ईसा को लोग समझ नहीं पाये या फिर गलत समझे, वैसे ही मीरा के साथ हुआ; किंतु लोगों द्वारा उपेक्षित होने से उनका मूल्य घटता नहीं।

हरमन गोएट्जे रचित 'मीरा : हर लाइफ एंड टाइम्स', 1, भारतीय विद्या भवन, बंबई से प्रकाशित।

## 2. मीरा का अनूठापन

भारत में अनेक स्त्री-संत हुई हैं परंतु मीरा अनूठी हैं। उन्होंने अपने समय में एक विद्रोह कर दिया था। उनका विद्रोह धार्मिक न था। मीरा का मूल्य उनकी भक्ति के नाते संभवतः उतना नहीं है जितना एक स्त्री होने के नाते है। यदि मीरा स्त्री न होकर पुरुष होती तो कोई समस्या ही न थी। स्त्री-विद्रोह और वह भी राजस्थान के राजपूत परिवार में एक कम उम्र की विधवा और अपुत्रा द्वारा पांच सौ वर्ष पूर्व—यह आश्चर्य की बात है कि कैसे वह बची रह सकीं। मीरा का स्त्री होना, स्त्री होकर स्वाभिमान से जीने का संकल्प; भक्ति मार्ग चुनकर उस पर अंतिम दम तक अडिग रहना—स्वविवेक पर जीने का यह साहस मीरा को अन्यतम और अनूठा बनाता है।

## 3. जन्म एवं जन्म स्थान

मीरा का जन्म कबीर साहेब के जन्म के लगभग सौ वर्ष बाद 1498 ई. में राजस्थान में ऊंचे माने जाने वाले राठौड़ राजपूत वंश में हुआ था। पहले राजस्थान को राजपूताना कहा जाता था जिसमें अनेक रियासतें थीं। मीरा का जन्म मारवाड़ रियासत में हुआ था। मीरा के पुरखे बड़े ऊंचे नामवाले थे। उनके पुरखों में राव जोधा ने जोधपुर और राव बीका ने बीकानेर शहर बसाया था। मीरा के पितामह राव दूदा ने मारवाड़ में एक समतल और उपजाऊ जगह पर, जहां पानी की कमी न थी, अपना अधिकार कर मेड़ता शहर बसाया था। मारवाड़ रियासत बड़ी थी, मेड़ता नयी एवं छोटी रियासत किंतु राव दूदा स्वतंत्र शासक की हैसियत रखते थे। मेड़ता में लगभग 350 गांव थे जिनमें राजपूत और जाट लाकर बसाए गये थे।

## 4. मीरा के माता-पिता

राव दूदा के चौथे पुत्र रतन सिंह थे जिनका विवाह झाला राजपूत कन्या वीर कुंवरि के साथ हुआ था। इन



दोनों प्राणियों की इकलौती संतान मीराबाई थीं। राजपूतों में बड़े पुत्र को राजगद्दी मिलती है, शेष पुत्रों को जीवन निर्वाह के लिए कुछ गांवों की जागीर मिल जाती है। मीरा के पिता रतन सिंह को भी मेड़ता से दूर कुड़की, वजोली आदि 12 गांव जागीर रूप में मिले थे। रतन सिंह कुड़की रहते थे। लोगों की इन पर बड़ी श्रद्धा थी। इनकी पत्नी भी सुशीला, साध्वी एवं धर्मपरायणा थीं।

मीरा का जन्म मेड़ता में हुआ था। संतों ने इसकी पुष्टि की है। प्रियादास जी ने लिखा है—‘मेड़तो जन्मभूमि’। चतुरदास ने लिखा है—‘मात-पिता जनमी पुर मेड़ता, प्रीति लगी हरि पीहर मांही’। सुखसारण ने लिखा है—‘मीरा जन्मी मेड़ता, भक्ति कारण कलिकाल।’

वैष्णव संतों ने मीरा के जीवन पर दो बातें समान रूप से लिखी हैं—मीरा मेड़ता में पैदा हुई। बचपन से ही उनमें भक्ति के संस्कार थे जो क्रमशः दृढ़ होते गये।

#### 5. ‘मीरा’ शब्द का अर्थ

मीरा उनके माता-पिता का दिया नाम था। विद्वानों के अनुसार मीरा संस्कृत के मीरः शब्द से बना है। मीरः का अर्थ है—उछलती जलधारा। मीरः में उणादि प्रत्यय लगने पर इसका अर्थ होता है—समुद्र या समुद्र कन्या। समुद्रकन्या से अर्थ है लक्ष्मी या पार्वती। मीरा वास्तव में भक्ति और प्रेम का समुंदर थीं। उनके व्यक्तित्व में लक्ष्मी व पार्वती दोनों घुले-मिले हैं। वे राजमहिला थीं, सौंदर्य एवं ऐश्वर्य संपन्न लक्ष्मी का प्रतीक; साथ ही वे कृष्ण-भक्ति में तपस्विनी बनीं, पार्वती जैसे। अतः मीरा पर दोनों अर्थ उपयुक्त जान पड़ते हैं।

वैसे, मुसलमानों में भी मीरा शब्द खुदा-प्रभु का पर्यायवाची है। अनेक सूफी फकीरों के नाम में मीरा शब्द लगा है जैसे मीरा शाह आदि।

#### 6. परिवार में वैष्णव संस्कार

मीरा के पितामह राव दूदा वीर योद्धा एवं कुशल प्रशासक होने के साथ ही भगवद्भक्त भी थे। 1460 ई. में मेड़ता शहर बसाने के साथ ही उन्होंने वहां विष्णु का चार भुजावाला एक विशाल मंदिर भी बनवाया। श्री नाभादास जी महाराज ने अपने ‘भक्तमाल’ ग्रंथ में मीरा

के पितामह राव दूदा, मीरा के बड़े पिता वीरमदेव एवं मीरा के चचेरे भाई जयमल को भी ‘सिद्ध भक्त’ के रूप में शामिल किया है। द्वारिकाधीश कृष्ण की आराधना राठौड़ों में परंपरा से थी। राव दूदा ने अपने परिवार में वैष्णव भक्ति के जो संस्कार डाले, उनका असर बहुत गहरा और दूर तक हुआ। वैसे भी, मारवाड़-मेड़ता में अनेक संत-भक्त हो चुके थे। अधिकांशतः वे राजपूत थे। मल्लीनाथ, पाबू जी, गोगा जी, हरभूजी, मांगलिया, रामदेव आदि भक्त हुए। पाबू जी मीरा के पूर्वज थे, हरभूजी का मीरा के पितामह पर गहरा प्रभाव था। मीरा ने अपने पितृकुल को कंठीधारी वैष्णव कहा है—‘पीहरिया रा लोग भलेरो, बांधे कंठी माला।’ मीरा को कृष्ण-भक्ति के संस्कार अपने इन्हीं परिजनों से प्राप्त हुए थे। मात्र ऊंचे कुल में जन्म लेने से भक्ति सुलभ नहीं हो जाती किंतु मीरा के लिए यह, संयोगवश, सुलभ थी।

#### 7. सुखमय बचपन

मीरा को माता-पिता का स्नेह मिला। फिर उनकी मां का शरीर छूट गया। तब वे अपने पितामह राव दूदा की देख-रेख में मेड़ता में पली-बढ़ीं। उनका बाल्यकाल सुखी था। पिता, पितामह, चाचाओं का स्नेह उन्हें मिला। मीरा दबी-सहमी बालिका न थी। वह अपने परिवार की लाडली थी। संभवतः इसीलिए ससुराल में अत्यधिक परदा रहने पर भी वे परदे से बाहर आकर बाह्य जगत के साथ बड़े स्वाभाविक ढंग से मिल-जुल सकीं।

#### 8. शिक्षा गुरु गदाधर गौड़

राजपरिवार में कन्याओं की शिक्षा-दीक्षा योग्य ब्राह्मणों द्वारा होती थी। अंग्रेज इतिहासकार कर्नल जेम्स टॉड ने लिखा है—‘राजपूतों के साधारण सरदारों के परिवार में भी लड़कियों की शिक्षा-व्यवस्था होती थी। भले ही वे लिखती न हों किंतु उन्हें लिखना-पढ़ना सिखाया जाता था।’ संगीत-गायन की शिक्षा भी होती थी। धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। स्त्रियों में कुलदेवी एवं सती माता की पूजा का संस्कार परंपरागत रूप से था। व्रतकथा आदि की शिक्षा भी होती थी। मीरा को ऐसे ही

एक गुर्जर ब्राह्मण गदाधर गौड़ ने शिक्षा दी थी। मीरा का उनके साथ जुड़ाव था। विवाह के समय मीरा के साथ ही गदाधर चित्तौड़ गए एवं मीरा ने भेंट में उनके परिवार के लिए जागीर एवं सिंचित भूमि दी थी।

मीरा की समुचित शिक्षा-दीक्षा हुई। वे योग्य बनीं। उनमें स्वतंत्र सोच थी। वे स्वावलंबी थीं। उनका लालन-पालन एक स्वाभिमानी, आत्मनिर्भर और जीवन की उठापटक से अवगत एक विवेकवान युवती के रूप में हुआ था। मीरा अपने सौंदर्य एवं सच्चरित्रता के लिए प्रसिद्ध थीं। यही सब देख-सुनकर मेवाड़ के राणा सांगा ने उन्हें अपनी पुत्रवधू बनाने की सोची।

### 9. मीरा में भक्ति भावना

प्रत्येक जीव के अपने संस्कार होते हैं जो उसके पूर्व जन्मों की कमाई हैं, जो जीव के साथ चलते हैं। अनुकूल वातावरण पाकर ये विकसित होकर प्रौढ़ हो जाते हैं। अन्यथा दबे रहते हैं। मीरा के परिवार के संस्कार धर्मप्रेरित थे ही। जनता में प्रचलित तमाम किंवदंतियां बताती हैं कि छुटपन से ही मीरा कृष्ण को अपना आराध्य मानती थीं। कृष्णभक्ति ने मीरा के लिए आजीवन कवच का काम किया। इसी के सहारे वह जीवन की हर विघ्न-बाधा से बचती रहीं।

### 10. विवाह-संबंध

राव दूदा ने मीरा का संबंध अपने से बहुत ऊंचे और राजपूताना का गौरव कहे जाने वाले मेवाड़ के राणा सांगा के बड़े पुत्र भोजराज से तय किया किंतु वे यह विवाह-संबंध देखने के लिए जीवित न रहे। उनके जाने के बाद मीरा के बड़े पिता वीरमदेव राजा बने, उन्होंने मीरा का विवाह संपन्न कराया। मेवाड़ एवं मेड़ता में पारस्परिक विवाह करने का प्रचलन था।

### 11. मेवाड़ का महत्त्व

मीरा मेड़ता की थीं। मेड़ता नवस्थापित छोटा राज्य था जहां राठौड़ क्षत्रिय राज करते थे। इनके निकट एक बड़ी प्राचीन और सुदृढ़ रियासत मेवाड़ की थी जो पिछले 800 वर्षों से उत्तरी भारत की शान थी। मेवाड़ की सालाना आय उस जमाने में दस करोड़ की थी। राणा सांगा, वहां का शासक और मीरा का श्वसुर, वीर

योद्धा था। अनेक युद्धों का वह विजेता रहा था। उसकी एक आंख न रही, एक हाथ कट गया था; बाएं पैर में भाला लगने से लंगड़ाकर चलता था। उसके शरीर में अस्सी घाव थे और एक भी घाव पीठ पर न था; सब घाव सामने भाग में थे। मुगल शासक बाबर ने राणा सांगा के बारे में अपनी पुस्तक 'तुजुके बाबरी' में लिखा—राणा सांगा अपनी तलवार के बल पर बड़ा शक्तिशाली हो गया है। गुजरात, दिल्ली, मालवा आदि की सेना उसका मुकाबला अकेले नहीं कर सकती। मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़गढ़ थी जो ऊंची पहाड़ी पर स्थिति होने से अजेय थी।

मेवाड़ के राजपूतों में शौर्य की अधिकता थी। लड़ना-मर मिटना, बात की बात में उनके लिए हंसी खेल जैसा था। आन-बान-शान के लिए राजपूत जीते-मरते थे। एक अंग्रेज विद्वान काउंट कैसरलिंग भारत की यात्रा पर आए। वे चित्तौड़ गए, वहां देखा। उन्होंने लिखा है—'पूरी पृथ्वी पर ऐसी जगह नहीं है जो शूरवीरता, राजसी गुणों और सम्मान के लिए मर मिटने में चित्तौड़ की बराबरी कर सके।'

### 12. मीरा का विवाह

राजपूतों में विवाह आमतौर पर सोलह से बीस वर्ष की उम्र में किया जाता था। संबंध वर-वधू की इच्छा से नहीं होता था। यह निर्णय घर-परिवार के बड़े—पिता, भाई आदि करते थे। विवाह राजनैतिक संबंधों को मजबूत करने की दृष्टि से किये जाते थे। राजाओं में बहु-विवाह होते थे। अन्तःपुर में स्त्रियों की संख्या राजा की प्रतिष्ठा और ताकत की सूचक थी। सामान्य लोगों में एक विवाह का ही रिवाज था। सन् 1516 ई. में जब मीरा लगभग 18 वर्ष की थीं उनका ब्याह कुंवर भोजराज से हुआ। भोजराज राणा सांगा के सबसे बड़े पुत्र थे। भोज वीर किंतु शांत प्रकृति के थे। राणा सांगा के बाद वे ही राजा होते और मीरा रानी। कुंवरानी बनकर मीरा चित्तौड़ आईं। अपने रनिवास में वे मेड़तणी मीरा (मेड़ता की मीरा) के नाम से जानी जाती थीं। राणा की बड़ी बहू होने के नाते उन्हें अच्छा दहेज मिला था। जो जानकारी है उसके अनुसार राणा सांगा ने अपनी पुत्रवधू मीराबाई को हाथखर्च के लिए 'पुर' और

‘मांडल’ परगने की तीन लाख की सालाना आय वाली जागीर चित्तौड़ में ही दी थी। मीरा को मेड़ता (नैहर पक्ष) की तरफ से भी गांव मिले थे। ये जागीरें उनके पास जीवन के अंत तक बनी रहीं। भारी मात्रा में आभूषण आदि भी उनके पास थे। विवाह के समय मेड़ता से उनकी सखियां भी उनके साथ गयीं। विद्यागुरु गदाधर गौड़ भी परिवार समेत गये।

### 13. विवाह का अल्पकालिक सुख

इतिहासकारों का मत है कि मीरा का वैवाहिक जीवन लंबा न चला। विवाह के तीन-चार वर्ष के भीतर ही किसी युद्ध में कुंवर भोज मारे गए। मीरा के पुत्र-पुत्री न थे। वह एकदम नवयौवना थी। वैष्णव ग्रंथों में मीरा को “बाल विधवा कुंवरि” अर्थात् कम उम्र की विधवा राजकुमारी कहा गया है।

### 14. राजपूतों में सती प्रथा

शत्रुओं का संहार करना राजपूतों का धर्म है। युद्ध में यदि वे वीरगति को प्राप्त होते हैं तो उनकी स्त्रियां अपने मृत पति के साथ चिता पर सती होकर अपने धर्म का पालन करतीं। पति की लाश के साथ उसकी चिता पर पत्नी का जल मरना सती होना कहलाता है। कुंवर भोज की मृत्यु के समय मीरा को सती होने के लिए उसके ससुराल के लोग प्रेरित करने लगे। अक्सर कम उम्र की रानियों को जबरन सती कर दिया जाता था। राजपरिवार को अपने कुल की स्त्रियों के दूषित होने अथवा उनके कुल को कलंकित करने का सबसे ज्यादा खतरा युवा स्त्रियों से था। अतः युवा विधवा का जिंदा रहना खतरनाक मानते थे।

### 15. मीरा को सती होने के लिए प्रेरित करना, किंतु मीरा का इंकार

ससुराल पक्ष के लोग चाहते थे मीरा सती हो जाये किंतु मीरा अड़ गयी कि वह सती न होगी। मीरा ने एक पद्य में कहा है—

*‘गिरधर गाऊँ, सती न होऊँ, मन मोहयो धन नामी।*

*मीरा के रंग लगा हरी का, और रंग सब अटक परी।।’*

गिरधर कृष्ण को गाऊंगी, सती न होऊंगी, मेरा मन उस नामधनी कृष्ण पर मोहित है। भक्ति का रंग लगा, संसार के राग-रंग फीके पड़ गए।

मीरा ने कहा, उसका शरीर किसी कुंवर की संपत्ति नहीं है, वह इसे जलाकर नष्ट न करेगी। मीरा ने अपने पति की मौत को यूं माना—

*ऐसे वर को क्या वरूँ जो जनमै मरि जाय।*

*वर वरिये एक सांवरौ जासो चुडलो अमर हो जाय।।*

*मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।*

*जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।।*

सांवरौ = सांवलेश्री कृष्ण। चुडलो = सुहाग।

उन्होंने और भी कहा है—

*झूठा सुहाग जग का री सजनी, होई होई मिट जासी।*

*मैं तो एक अविनाशी बरूंगी, जाहे काल नहीं खासी।।*

इस प्रकार मीरा अड़ गयी कि वह सती न होगी। उसके मायके वाले उसके इस निर्णय के साथी थे। ‘सती न होकर बल्कि जीवित रहकर अपना जीवन जीना’ यहां से मीरा का वास्तविक जीवन शुरू होता है। मीरा की पहचान, उनके असल चरित्र की प्रथम परिचायक यह सती न होने की घटना है। सती होने से मना करना एक क्रांतिकारी कदम है। निश्चय ही यह पातिव्रत्य के पार जाना है। आगे आने वाला जीवन सहज न होगा मीरा के लिए, यह निश्चित हो गया था।

### 16. पिता और श्वसुर की मृत्यु

पति भोज की मृत्यु के बाद मीरा की धार्मिक प्रवृत्ति बढ़ गयी। जबकि राजनीतिक अस्थिरता का दौर तेजी से चला। इसी बीच मुगल आक्रमणकारी बाबर ने दिल्ली जीत लिया। उसने पानीपत की पहली लड़ाई में लोदी शासक को हरा दिया। यह 1526 की घटना है। अगले वर्ष 1527 में उसने चित्तौड़ के शासक राणा सांगा को आगरा के निकट खानवा की लड़ाई में हरा दिया। इस युद्ध में राजपूतों की सम्मिलित सेना की तरफ से लड़ते हुए मीरा के पिता राव रतन सिंह मारे गये। कुछ दिनों बाद घायल राणा सांगा भी मार दिये गये। समूचा मेवाड़, राजधानी चित्तौड़ सहित, राजा के बिना अनारक्षित हो गया। मीरा पर तो मानो दुखों का पहाड़ टूट पड़ा। पहले पति, फिर पिता एवं पितातुल्य श्वसुर का जाना मीरा को एकदम आहत कर गया।

### 17. मेवाड़ में राजनीतिक उथल-पुथल का दौर

राणा सांगा जैसे शक्तिशाली एवं प्रभावशाली राजा की मृत्यु से मेवाड़ में शक्ति-शून्यता की स्थिति पैदा हो गयी। चित्तौड़ में जो रौनक रहती थी, उनकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गयी। उनके उत्तराधिकारी प्रायः उत्तेजित स्वभाववाले, गर्म मिजाज एवं असहनशील थे। सामंत लोग राजदरबार छोड़कर अपनी जागीरों में लौटने लगे थे। पर्याप्त सैनिकों के अभाव में दुर्ग असुरक्षित हो गया था। राजपरिवार में कोई वरिष्ठ व्यक्ति जीवित न बचा था। लगातार राजनीतिक कुचक्रों के चलते मेवाड़ की जनता भयभीत थी। खराब आर्थिक हालात एवं राणाओं के आदेश पर लगान वसूलने के लिए प्रजाजनों पर किए गये अत्याचारों से मेवाड़ की जनता त्रस्त थी।

राणा सांगा के मरने पर उनके पुत्रों में राज्य को लेकर कलह मच गयी। मीरा के पति तो पहले ही मर गए थे। उनके तीन देवर थे—रतनसिंह, विक्रमादित्य एवं उदय सिंह।

रतन सिंह राणा बने। कुछ दिनों में उनकी हत्या हो गयी। फिर विक्रमादित्य राणा बने। इतिहास में चर्चा है कि विक्रमादित्य कम उम्र का, अहंकारी, छिछोरा व कान का कच्चा था। उसकी मां कर्मावती राणा सांगा की प्रिय रानी थी। कर्मावती एवं मीरा में परस्पर बनती न थी। अतः मीरा के साथ उसके रिश्ते तनावपूर्ण रहे। राणा विक्रमादित्य ने मीरा को तकलीफ दी। उसने मां कर्मावती के कहने पर मीरा की भक्ति-भावना पर रोक लगाना चाहा, मार डालने का भी षड्यंत्र किया किंतु मीरा अपमान, निंदा का विष चुपचाप पी गयीं। फिर कुछ वर्षों बाद दासीपुत्र बनवीर ने विक्रमादित्य को मार डाला। वह छोटे युवराज उदयसिंह को भी मार डालता किंतु पन्ना धाय ने अपने पुत्र का बलिदान कर उदय सिंह को चुपचाप किले से बाहर सुरक्षित पहुंचा दिया। बनवीर ने भी मीरा पर अत्याचार किया। उस पर अंकुश लगाना चाहा। कुछ वर्षों बाद बनवीर को हटाकर दरबारियों ने उदय सिंह को राणा बनाया।

इन्हीं उदय सिंह के पुत्र महाराणा प्रताप हुए जो भारत में राष्ट्रगौरव का चिह्न माने जाते हैं। घोड़े चेतक पर सवार, हाथ में भाला लिए, पीठ में ढाल रखे—राणा

प्रताप की सजीव जान पड़ती मूर्तियां देश के हर कोने में मिल जाएंगी। मेवाड़ भूमि धन्य है जिसने राष्ट्रीय प्रतीक के दो महापुरुष दिए—भक्तिदेवी मीराबाई एवं राष्ट्रभक्त राणा प्रताप। राणा प्रताप मीरा के छोटे देवर के पुत्र थे।

### 18. मीरा के गुरु रैदास

राजकाज या महल की षड्यंत्रकारी घटनाओं से मीरा का कोई लेना-देना न था। उन्होंने भक्ति करने की ठान ली थी। वह बस इसी भाव में जीती थीं। लोगों में यह धारणा पुष्ट है कि संत रैदास मीरा के आध्यात्मिक गुरु थे। मीरा के नाम से बने भजनों में इसकी चर्चा है। मीरा की एक सास झाली रानी ने रैदास से दीक्षा ली थी और उनकी शिष्या बनी थीं।

ऐतिहासिक रूप से रैदास मीरा के गुरु नहीं लगते। दोनों के समय में फासला है। हो सकता है संत रैदास की परंपरा का कोई साधु उनका गुरु रहा हो या फिर रैदास की वाणी से मीरा को आध्यात्मिक लाभ हुआ हो। पंजाब, राजस्थान, हरियाणा आदि में रैदास के मानने वालों की बड़ी संख्या है। वे सभी मीरा को रैदास की शिष्या रूप में मानते हैं।

मीरा कहती हैं—

*खोजत फिरूं भेद वा घर को, कोई न करत बखानी।  
रैदास सन्त मिले मोहि सतगुरु, दीर्हीं सुरत सहदानी॥*

या फिर,

*मेरे मन लाग्यो हरिजी सूं, नहीं पियाजी रीके साथ।  
मीरा गोविंद मिल्या जी, गुरु मिलिया रैदास॥*

या फिर,

*बस्तु अमोलक दी मेरे सतगुरु, किरपा करि अपनायो।  
पायो जी मैंने राम रतन धन पायो॥*

संत रैदास जाति के चमार थे एवं काशी के थे। जनसाधारण में उनकी स्वीकार्यता और सम्मान बहुत था। वे स्वामी रामानंद के शिष्य एवं कबीर साहेब के बड़े गुरु भाई थे। मीरा जैसी राजपूत महिला और एक निम्न जाति के संत के बीच का यह शिष्य-गुरु संबंध जन भावनाओं और आकांक्षाओं के अनुसार था, इसलिए खूब प्रचारित हुआ।

—क्रमशः

# व्यवहार वीथी

## स्वभाव परिवर्तन

वह कहानी हम लोगों ने अनेक बार सुनी है कि एक कौआ और कोयल दोनों साथ-साथ रहते थे। एक दिन कोयल देखती है कि कौआ कहीं जाने की तैयारी कर रहा है। कोयल ने पूछा—भैया! क्या कहीं बाहर जा रहे हो? कौए ने कहा—हां बहिन, अब मैं यहां नहीं रहूंगा। क्योंकि यहां लोग मेरा आदर नहीं करते। आदर न करे तो कोई बात नहीं, अनादर करते हैं। मैं जहां कहीं बैठता हूं और जैसे ही बोलना शुरू करता हूं जैसे ही लोग मुझे पत्थर मारकर भगा देते हैं। इसलिए अब मैं यहां नहीं रहूंगा। दूर जाऊंगा, जहां मेरा आदर-सत्कार हो।

कौए की बात सुनकर कोयल ने कहा—भैया! स्थान बदलने से काम नहीं बनेगा, स्वभाव को बदलना होगा। जब तक अपने स्वभाव को नहीं बदलोगे, कहीं भी जाओगे, आदर नहीं मिलेगा, लोग तुम्हें पत्थर मारकर भगाते ही रहेंगे। जो तुम्हारे कर्-कर् कटु बोलने की आदत है यह तुम्हारे अपमान का कारण है। इस स्वभाव को छोड़ दो तो सर्वत्र आदर मिलेगा।

आदमी कहीं भी चला जाये जब तक वह अपने स्वभाव को नहीं बदलेगा। तब तक केवल जगह बदलने से आदर-सत्कार नहीं मिलेगा।

झूठ एवं कटु बोलने, लड़ाई-झगड़ा करने, ईर्ष्या-द्वेष करने, निंदा-चुगली करने एवं दूसरों के दोष देखने की या अन्य और प्रकार की जो आदतें हैं इनका त्याग जब तक नहीं होगा कितना भी स्थान बदलते रहें, कोई फर्क नहीं पड़ने वाला है। स्वभाव गलत होगा तो जहां जायेंगे अपमान होता रहेगा। कटु-कुठार और गलत बोलकर आदमी सर्वत्र अपना शत्रु तैयार कर लेता है।

एक कहावत है—जेनि जिह्वा में ज़ेर, तेने जीवन में वेर।' जीभ में यदि जहर रहेगा तो जीवन में बैरियों की कमी नहीं रहेगी। इसलिए स्वभाव बदलने की

आवश्यकता है।

यद्यपि यह भी कहा जाता है कि “स्वभावः दुरतिक्रमः।” स्वभाव को बदलना कठिन है। लेकिन यह भी कहा गया है कि “वीर वही जो स्वभावहि जीते।” वीर कौन है? जो अपने स्वभाव को जीत ले। स्वभाव को जीतने का अर्थ है गलत स्वभाव का त्याग करके अच्छा स्वभाव बना लेना।

कटु बोलने की आदत थी तो उसका त्याग कर मीठा बोलने की आदत बना लिये। झूठ बोलने की आदत थी उसका त्याग कर सत्य बोलने का स्वभाव बना लिये। निंदा-चुगली करने की आदत थी तो उसका त्याग कर दूसरों की प्रशंसा-बड़ाई करने लग गये। दूसरों में दोष देखने की आदत थी उसका त्याग कर सदगुण देखने लग गये।

इस प्रकार हम अपने स्वभाव को बदल सकते हैं। हर आदमी इसमें समर्थ है। परन्तु हम स्वभाव बदल क्यों नहीं पाते इसमें एक कारण तो यह है कि हमें अपने गलत स्वभाव की पहचान नहीं होती है। हम मान लेते हैं कि हम तो ठीक ही हैं। यदि गलत है तो दूसरे हैं। अपने को बदले तो दूसरा आदमी बदले। जब अपने को ठीक मान लिये तब सुधार का कोई रास्ता ही नहीं रह गया, सुधारने की बात ही नहीं उठेगी। दूसरा कारण है अपनी मानसिक कमजोरी। हम मेहनत नहीं करना चाहते हैं। अपने गलत स्वभाव से हमें दुख का अनुभव नहीं होता है तो उसे बदलें कैसे? नहीं बदल पाते इसीलिए सर्वत्र अपमान सहन करना होता है।

जिसका स्वभाव गलत है वह दूसरों को तो दूर अपने ही लोगों को पराया बना लेता है। अपने लोगों के बीच रहते हुए भी वह पराया-जैसा, अनजान-अपरिचित जैसा रहने लगता है। क्योंकि उसके गलत स्वभाव के कारण उसके स्वजन ही उससे अलग हटने लग जाते हैं, उदासीन हो जाते हैं। उससे बात नहीं करना चाहते, उसकी परवाह नहीं करते।

यदि स्वभाव ठीक है, वाणी ठीक है तब जो पराये एवं अपरिचित लोग हैं वे भी स्वजन बन जाते हैं, मित्र और सहायक बन जाते हैं।

इस पर एक घटना याद आती है। एक बार गांधी

जी को जेल में डाल दिया गया तो वहां का जो अधीक्षक था उसने सोचा कि ऐसा कुछ किया जाये जिससे गांधी जी जेल में परेशान हो जायें। उसने एक हबसी को जो विदेश का था उसे गांधी जी की सेवा में लगा दिया। हबसी न गांधी जी की भाषा जानते थे और न गांधी जी हबसी की भाषा जानते थे। भाषा न जानने से गांधी जी को व्यवहार में कठिनाई होना सामान्य बात है। गांधी जी इशारे से उससे काम लेते थे। उसी दरम्यान हबसी की ऊंगली में फोड़ा हो गया। वह फोड़ा एकदम पक गया। फोड़ा के कारण हबसी बहुत परेशान रहने लगा। गांधी जी ने उसके फोड़े को अपने मुख में ले लिया जिससे उसको बहुत राहत मिली।

यह भी कहा जाता है कि हबसी को बिच्छू ने डंक मार दिया। उसका दर्द बढ़ गया। वह हाय-हाय करने लग गया। गांधी जी उस जगह को ब्लेड से छील दीये और मुंह से चूस-चूसकर वहां के खून को बाहर निकालने लग गये। ऐसा करने से जहर पूरा उतर गया, और उसका दर्द मिट गया, हबसी शांत हो गया।

गांधी जी के इस व्यवहार से हबसी इतना प्रभावित हुआ कि जी जान से उनकी सेवा में लग गया। ऐसा लगने लगा कि वर्षों से पहचाना हुआ सेवक है। अधीक्षक ने देखा कि इसको तो मैंने गांधी जी को परेशान करने के लिए लगाया था लेकिन यह तो पूरा समर्पित होकर सेवा करने लग गया।

गांधी जी हबसी की भाषा नहीं जानते थे और हबसी गांधी जी की भाषा नहीं जानते थे लेकिन अपने प्रिय स्वभाव से गांधी जी ने हबसी के दिल को जीत लिया और वह उनके लिए पूरा का पूरा समर्पित हो गया।

यदि अपना स्वभाव सही होगा तो अपरिचित से अपरिचित लोग भी हमारे मित्र, सहायक, अनुगामी बन जायेंगे। किंतु स्वभाव गलत होगा तब जो सहायक पास में रहेंगे वे भी धीरे-धीरे साथ छोड़ते चले जायेंगे। इसलिए दूसरे को ठीक न कर अपने आप को ठीक करना होगा। अपने आप को ठीक करना है अपने स्वभाव को सुधारना। यदि स्वभाव को सुधार लिये तो

बाकी सब कुछ ठीक हो गया।

बाहर हमारा कहीं कोई मित्र नहीं है और बाहर हमारा कहीं कोई शत्रु नहीं है। हम स्वयं अपने मित्र हैं और स्वयं अपना शत्रु हैं। जो व्यक्ति अपना मित्र हो जाता है उसे बाहर मित्रों की कमी नहीं होती। अपना मित्र होने का अर्थ अच्छी वस्तुओं को खाना-पीना, अच्छी सुविधा प्राप्त करना, मन जैसा चाहता है वैसा उसे देते रहना नहीं है। लोग यही समझते हैं कि हमें अच्छा खाने को मिले, अच्छा पहनने को मिले, अच्छा रहने को मिले, अच्छी सुविधा मिले, सब अच्छी चीजें हमें मिले। और लोग मान लेते हैं कि अपने साथ हम भलाई कर रहे हैं। किंतु अपने साथ लोग भलाई नहीं कर रहे हैं बल्कि अपने साथ वैर कर रहे हैं, अपनी आदत को खराब कर रहे हैं। मन-इन्द्रियों को चंचल बना रहे हैं।

अपने को अपना मित्र बनाने का अर्थ है अपने आप पर संयम रखना। वाणी पर संयम रखना, सम्हालकर बोलना। आवश्यकताभर बोलना। ऐसा बोलना जिसे बोलकर पछताना न पड़े। और जिससे दूसरों को तकलीफ न हों। ऐसा सोचना जिससे मन विकारी न हो, चंचल एवं अशांत न हो। ऐसा काम करना जो अपने और दूसरों के लिए भी दुखदाई न हो किन्तु हितकर हो।

एक बात समझ लें कि जो काम अपने लिए हितकर होगा वह काम दूसरों के लिए भी हितकर होगा और जो काम अपने लिए अहितकर है वह काम दूसरों के लिए भी अहितकर होगा ही होगा।

जब हम अपना मित्र स्वयं बन जाते हैं, अपने आप पर नियंत्रण कर लेते हैं, तब फिर हमें मित्रों की कमी नहीं रहती किन्तु यदि हम अपना मित्र नहीं बन पाये, शत्रु बन गये, स्वभाव को गलत बना लिये, मन-वाणी-इन्द्रियों को चंचल बना लिये, गलत काम करने लग गये तो जहां जायेंगे वहां शत्रु की कमी नहीं होगी। क्योंकि जब हम स्वयं अपना शत्रु बने हुए हैं, रात-दिन अपना नुकसान करने के लिए बैठे हैं तो बाहर हमें उठाने वाला कौन मिलेगा। इसलिए अपना शत्रु स्वयं न बनें।

सद्गुरु कबीर की एक साखी है—तेरा बैरी कोई

नहीं, तेरा बैरी फैल। अपनी फैल मिटाय ले, गलि-गलि कर सैल। अर्थात बाहर तुम्हारा वैरी दूसरा कोई नहीं है। भ्रम है कि अमुक-अमुक लोग हमारे वैरी हैं, हमारी हानि करने वाले हैं। तुम्हारे जो दोष हैं, तुम्हारा जो गलत स्वभाव है, गंदी आदतें हैं, यही तुम्हारे वैरी हैं। इनको मिटा दो, गलत स्वभाव को ठीक कर लो, गंदी आदतों को दूर कर लो, गलत बात बोलने की आदत छोड़ दो, अपने दोषों पर नियंत्रण कर लो, फिर तुम्हारा शत्रु कोई नहीं होगा।

स्थान बदल लें, वेष बदल लें इससे कोई फर्क नहीं पड़ने वाला है। सड़न तो भीतर है। भीतर कोई चीज सड़ रही है उसको हम दूर न करें और बाहर को खूब धोयें-पोछें, बाहर सुगंधित पदार्थ छिड़क दें तो यह तात्कालिक उपाय होगा, इससे दुर्गंध दूर नहीं होगी। दुर्गंध को यदि सदा के लिए दूर करना है तो जो चीज सड़ रही है, उसको निकालकर बाहर फेंकना होगा। ऐसे ही सड़न तो हमारे भीतर है गलत स्वभाव। इसकी दुर्गंध सर्वत्र सब समय फैलती रहती है। कहीं भी चले जायें यदि ईर्ष्या करने, दोष देखने, निंदा करने, कटु बोलने, लड़ने-झगड़ने की आदत बनी हुई है तो कहीं दुश्मनों की कमी नहीं होगी। सर्वत्र अनादर ही मिलेगा।

घर-परिवार छोड़ना सरल है। स्वभाव को सुधारना कठिन होता है। अच्छे-अच्छे वैराग्यवान और साधक कहलाने वाले लोग भी पर-निंदा में पड़े रह जाते हैं। एक उदाहरण आता है—

एक गांव के बाहर कुटी बनाकर तीन साधु एक साथ रहते थे। एक दिन तीनों बैठकर आपस में चर्चा कर रहे थे। चर्चा करते-करते बात आई कि हम तीनों आज साधु हैं, लेकिन हम लोग जब घर में रहते थे तो किसमें सबसे बड़ा दोष क्या था यह बताया जाये।

एक साधु ने कहा कि जब मैं घर में था तो अनेक पराई नारियों से मेरा संपर्क-संबंध था। दूसरे ने कहा कि मैं चोरी करता था। अपने पूर्व जीवन में मैंने खूब चोरी की है। बिना चोरी किये मुझसे रहा नहीं जाता था। तीसरे ने कहा कि मुझमें ऐसा कोई दोष नहीं था। मुझमें

निंदा करने की आदत थी। आप लोगों ने अपना-अपना दोष बता दिये। अब मुझे चैन नहीं पड़ रहा है, अब मैं जा रहा हूँ आप दोनों के दोष गांव वालों को बताने के लिए। यदि साधु का भी वेष पहन लिये और निंदा करने की आदत नहीं गयी तो शांति थोड़े मिलेगी।

कितने लोग ऐसे होते हैं जो स्वयं तो ठीक-ठाक नहीं रहते लेकिन दूसरों की जरा-सी भी गलती देख लेते हैं तो उसको दूसरों को बताये बगैर उनका पानी नहीं पचता है। तिल का ताड़ बनाकर दूसरों से चर्चा करते रहते हैं। ऐसे लोग सर्वत्र गंदगी फैलाने वाले होते हैं। स्वभाव ही होता है गंदगी देखना। जैसे सूअर का स्वभाव होता है, गंदगी में मुंह डुबाना, गंदगी खाते फिरना। ऐसे ही कुछ लोगों का स्वभाव होता है, दूसरे के दोष को देखते रहना और उसको फैलाते रहना। वे जिंदगी भर सुअर ही बने रह जाते हैं।

जब स्वभाव ही ऐसा है तो कहीं भी हम जायेंगे चैन से नहीं रह पायेंगे। यदि अपने दोषों को हम ठीक नहीं कर पाये हैं जिनके कारण हम रात-दिन परेशान एवं अशांत हैं तो कम से कम दूसरों के दोषों को तो ढंकने का प्रयास करें। उसको फैलाये नहीं।

दूसरों के सद्गुणों की चर्चा नहीं कर पाते, दूसरों के अच्छे गुणों को नहीं देख पाते, प्रशंसा नहीं कर पाते तो निंदा क्यों करें? सद्गुणों का प्रचार नहीं कर पाते हैं तो दुर्गुणों का प्रचार क्यों करें?

दुर्गुणों को देखते-देखते हमारा जीवन दुर्गुणों से भर जाता है किंतु हमें इसकी कोई चिंता ही नहीं होती है। दुर्गुण देखना है तो अपना दुर्गुण देखें और उसे ही ठीक करें। जब तक वह ठीक नहीं होगा तब तक शांति नहीं मिलेगी, कोई हमारा मित्र नहीं होगा।

जो उदाहरण प्रारंभ में दिया गया है उसका सार यही है कि स्थान एवं वेष बदलने से काम नहीं बनेगा किंतु काम होगा स्वभाव को बदलने से। स्वभाव बदलने का अर्थ है अपनी गलत आदतों का त्याग करके सही आदतें बनाना। जो अपने स्वभाव को बदल लेता है, उसे लगता ही नहीं कि बाहर मेरा कोई शत्रु है। उसे लगेगा कि ये

सब मेरे मित्र हैं। कहीं भी कुछ लोग गलत हो सकते हैं, सब के सब गलत नहीं हो सकते। यदि हमें लगता है कि सब के सब गलत हैं तो इसका मतलब है कि हम स्वयं गलत हैं। यह मानना पड़ेगा कि संसार में कुछ गलत लोग भी होते हैं। लेकिन सब के सब गलत नहीं होते।

एक कहानी याद आती है। एक गांव के बाहर एक बूढ़ा व्यक्ति बैठा हुआ था। रास्ते से चलते हुए एक युवक आया और बूढ़े से पूछा—बाबा! मैं इस गांव में घर बनाकर रहना चाहता हूँ, लेकिन यह जानना चाहता हूँ कि यहां के लोग कैसे हैं? बूढ़ा ने उससे पूछा कि बेटा! यह बताओ कि तुम जहां से आ रहे हो वहां के लोग कैसे हैं? युवक ने कहा—बाबा! क्या बताऊँ? वहां के लोग बड़े दुष्ट और दुराचारी हैं। उन लोगों ने मेरा जीना हराम कर दिया इसलिए मुझे वह गांव छोड़ना पड़ा। उस गांव के लोगों की याद आती है तो मेरा खून खौल जाता है। अब तो मैं भूलकर भी उस गांव में नहीं जाऊंगा।

उस बूढ़े ने कहा—बेटा! यहां के लोग वहां के लोगों से ज्यादा दुष्ट हैं। वहां तो तुम इतने दिनों तक रह लिये। यहां तो तुम्हें महीना भर भी रहने नहीं देंगे। तुम कहीं और जगह चले जाओ। वह युवक आगे बढ़ गया।

आधा घण्टा बाद उसी रास्ते से एक दूसरा युवक आया। उसने भी उस बूढ़े से यही कहा कि बाबा, इस गांव में मैं घर बनाकर रहना चाहता हूँ लेकिन उससे पहले यह जानना चाहता हूँ कि यहां के लोग कैसे हैं? उस बूढ़े ने उससे भी यही पूछा कि तुम जहां पहले रहते थे वहां के लोग कैसे हैं? उस युवक ने कहा—बाबा! वहां के लोग बड़े सज्जन, बड़े परोपकारी हैं, बहुत अच्छे लोग हैं। लेकिन मेरी कुछ ऐसी मजबूरी आ गई कि मुझे नहीं चाहते हुए भी उस गांव का त्याग करना पड़ा। मेरा मन अभी भी यही कहता है कि भाग्य ने साथ दिया तो फिर उसी गांव में जाकर अपना निवास बनाऊंगा। उस गांव के लोगों की याद करता हूँ तो मेरा

मन प्रसन्नता से भर जाता है।

उस बूढ़े ने कहा—बेटा! तुम इस गांव में बड़ी खुशी से घर बनाकर रहो। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि इस गांव के लोग उस गांव के लोगों से भी अधिक सज्जन हैं। इस गांव में तुम्हें किसी प्रकार की कोई शिकायत नहीं मिलेगी।

एक आदमी वहीं बैठा उस बूढ़े की बात को सुन रहा था। जब वह युवक चला गया तब उस आदमी ने कहा—बाबा, आप एक ही प्रश्न के उत्तर दो ढंग से कैसे दिये? एक से कहा कि यहां के लोग बड़े दुष्ट हैं और दूसरे से कहा कि यहां के लोग बड़े सज्जन हैं। उस बूढ़े ने कहा कि पहला आदमी जो आया था उसने यह कहा कि जहां से मैं आ रहा हूँ वहां के लोग बड़े दुष्ट हैं। उस गांव में एक-दो दुष्ट हो सकते हैं लेकिन पूरे के पूरे लोग दुष्ट हों—यह संभव ही नहीं है। हकीकत तो यह है कि उस युवक के अंदर दुष्टता थी। उसका स्वभाव ही गलत था। उसके दुर्व्यवहार के कारण वहां के लोग उससे नाराज हो गये। दूसरा युवक जहां से आया वहां भी कुछ गलत आदमी होंगे, लेकिन इसके अंदर गुण ग्रहण करने की प्रवृत्ति है। यह स्वयं सज्जन स्वभाव का है। इसका व्यवहार ऐसा रहा है कि सब लोग इसके सहायक बन गये। यह जहां भी रहेगा अपने अच्छे स्वभाव से आसपास वालों के दिल को जीत लेगा, मित्र बना लेगा।

यही बात हमारे जीवन के लिए भी है। हमारा स्वभाव गलत होगा तो हर जगह हमें खा जाने वाले लोग मिलेंगे। स्वभाव हमारा सही होगा तो हर जगह हमारी सहायता करने वाले, हमें ऊपर उठाने वाले लोग मिलेंगे।

अतः स्थान बदलने की नहीं किन्तु स्वभाव बदलने की आवश्यकता है। हम अपना ऐसा स्वभाव बनायें कि दूसरों पर विश्वास करना सीखें। विश्वास से विश्वास बढ़ता है। हमारा व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि दूसरे लोग हम पर विश्वास कर सकें। हम दूसरों पर विश्वास न कर अविश्वासपूर्वक व्यवहार करेंगे, अविश्वासपूर्वक दूसरों को देखेंगे, हर काम अविश्वासपूर्वक करेंगे तो



हमारा व्यवहार खराब होता चला जायेगा, हम सबका विश्वास खोते चले जायेंगे और एक दिन लगेगा कि मुझ पर कोई विश्वास नहीं करता, सब मेरे शत्रु हैं।

वे शत्रु स्वयं नहीं बने हैं किन्तु हम अपने गलत और अविश्वासी स्वभाव के कारण बनाये हैं। विश्वास करना सीखें तो हमें विश्वासी लोग मिलते चले जायेंगे। अविश्वास करते जायेंगे तो लोग विश्वास करें या न करें किन्तु हमें लगेगा कि मुझ पर कोई विश्वास नहीं करता है। यह हमारे स्वभाव की त्रुटि है। इसको हमें ठीक करना होगा। यदि इसको ठीक कर लिये तो कहीं भी रहें सब मित्र ही हैं।

इसलिए अपने स्वभाव को सुधारें और जहां रहें वहां ऐसा व्यवहार करें कि दूसरों के विश्वास को जीत लें, दूसरों के मन को जीत लें और सबको खुश किये रहें, तो लगेगा कि सब मेरे साथ मित्रता का सुंदर व्यवहार कर रहे हैं। सारी जिम्मेदारी हमारी अपनी है। इसलिए हमें अपने स्वभाव को देखना-परखना है और उसे ही ठीक करना है। स्वभाव सुधार ही व्यवहार सुधार है और स्वभाव को सुधारना ही जीवन को सुधारना है।

—धर्मोन्द्र दास

## निर्भयता ही जीवन है

लेखक—विवेक दास

सभी प्राणियों के अन्दर जिजीविषा होती है और इसीलिए वे अपने जीवन को टिकाने के लिए प्रयत्नवान होते हैं। अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिए संघर्ष करते हैं। इतिहास साक्षी है जिन-जिन प्रजातियों ने संघर्ष किया और संघर्ष में सफल हुए, वे ही अपने अस्तित्व को टिका पाने में कामयाब हुए। आज मनुष्य इस भूतल पर सिरमुकुट बनकर जी रहा है। यह उसके संघर्ष का ही परिणाम है।

जब जीवन में किसी प्रकार की बाधा या 'अवरोध' उत्पन्न होता है तो मनुष्य भयभीत होता है और इस भय की वजह से वह संघर्ष करता है। संघर्ष के फलस्वरूप ही मनुष्य उत्तरोत्तर प्रगति पथ पर आगे बढ़ रहा है। चाहे यह संघर्ष प्रकृति के किसी भी क्षेत्र में हो मनुष्य सफल रहा है। किन्तु क्या इतना विकास करने के पश्चात भी मनुष्य भय-मुक्त हो सका है?

प्राणियों के अन्दर सबसे बड़ा भय है मृत्यु का और इससे लगभग सभी भयभीत बने रहते हैं। मनुष्य के अलावा अन्य प्राणियों में सिर्फ मौत का ही भय होता है किन्तु मनुष्य अनेक प्रकार के भय से ग्रस्त रहता है।

वह पदे-पदे भयभीत बना रहता है। मृत्यु का भय तो अनादि कालिक है। यह जीव अनादिकाल से अगणित जन्मों से मृत्यु का सामना करते आया है इसलिए इसका संस्कार चित्त पर पड़ा है। अतएव मृत्यु का कारण उपस्थित होने पर भयभीत होता है। इस भय से मूढ़ तो मूढ़ ज्ञानी और विद्वान भी नहीं छूटते हैं। कोई बिरला आत्मस्थ और निष्काम पुरुष इस भय से मुक्त हो पाते हैं, और तो सभी मृत्यु के भय से भीत रहते हैं। इस मृत्युभय को योगदर्शनकार महर्षि पतंजलि अभिनिवेश की संज्ञा देते हैं—

*स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारुढोऽभिनिवेशः ॥ 2/9 ॥*

जो स्वभाव से ही चला आया है और विद्वानों में भी उसी प्रकार विद्यमान है, अभिनिवेश है।

यह तो समझ में आता है कि मृत्यु का भय अनादि कालीन है, पहले से चला आ रहा है। वर्तमान में भी हम औरों को मरते हुए देखते हैं तो हमारे अन्दर भय का प्रादुर्भाव होने लगता है लेकिन इस भय के साथ और भी अनेक प्रकार के भय से मनुष्य ग्रस्त होता है और उसे सहज जीवन जीने में भी कठिनाई होती है। जैसे रोग का

भय, वृद्धावस्था का भय, धन छिन जाने का भय, प्रिय के वियोग हो जाने का भय, अप्रिय के संयोग का भय, अपमान का भय, आलोचना या निंदा का भय, अकेले हो जाने का भय, भूत-प्रेतादि का भय। यह लिस्ट और भी लम्बी की जा सकती है, लेकिन इतने से समझा जा सकता है कि आदमी कैसे-कैसे भय से ग्रसित रहता है और लाख प्रयास के बावजूद भी वह इन भयों से मुक्त नहीं हो पाता। किसी न किसी प्रकार से वह भयग्रसित बना ही रहता है।

आयें देखते हैं भय की उत्पत्ति किन कारणों से होती है—

**1. माता-पिता और परिवार वालों की ना-समझी**—जब बच्चा पैदा होता है तो माता-पिता और परिवार जनों के संरक्षण में होता है तभी से माता-पिता और परिवार जनों द्वारा जाने-अनजाने उसके मन में भय का संस्कार भरा जाता है फिर वह बच्चा जीवन भर भयग्रस्त बना रहता है। एक विचारक ने तो लिखा है— “जब बच्चा पैदा होता है तो नाल काटने वाली दायी या नर्स इस तरह झटके से नाल काटती हैं कि बच्चा भयभीत हो जाता है। उस समय वह पूरी तरह से तैयार भी नहीं हुआ रहता है कि बाह्य परिस्थिति को झेल सके, सहज होकर स्वांस ले सके और नाल काटा जाता है, तो वह भयभीत हो जाता है। आजकल नये ढंग से सर्जरी के माध्यम से बच्चे को गर्भ से निकाला जाता है इससे भी बच्चे के अन्दर भय के संस्कार जमने लगते हैं। बच्चे का जहां जन्म होता है वहां अत्यधिक प्रकाश होने की वजह से भी बच्चा घबरा जाता है। उसकी आंखें चौंधियां जाती हैं। अचानक प्रकाश पाकर वह भयभीत हो जाता है। जब बच्चे का जन्म होता है तो लोग खुशी के मारे आतिशबाजी करने लगते हैं। अधिक आवाज वाले फटाके फोड़ते हैं, इससे भी बच्चा भयभीत हो जाता है। जिस मनुष्य में इस प्रकार जन्म से ही भय के संस्कार पड़ने लगे तो वह आगे चलकर भय-मुक्त कैसे हो सकेगा?

माता-पिता और परिवार जनों द्वारा समय-समय से बच्चे को भूत, बाबा या अंधियारी की बात बताकर

भयभीत किया जाता है। कभी-कभी बच्चा अनजाने में गलती कर जाता है तो माता-पिता उसे प्रेम से समझाने के बजाय डांट या मार करके भयभीत कर देते हैं जिसकी वजह से भी बच्चे के अन्दर भय स्थायी हो जाता है।

**2. संग्रह प्रवृत्ति**—भय का एक मुख्य कारण है संग्रह प्रवृत्ति। परिवार-समाज में सबकी सम्मति और जानकारी से संग्रह होता है तो इससे कोई भय नहीं होता है किन्तु जब कोई आदमी व्यक्तिगत स्वार्थ भावना को लेकर लुकाने-छिपाने की प्रवृत्ति के साथ संग्रह करता है तो भय का जन्म होता है। कहीं कोई जान न ले, कोई इस सम्पत्ति को ले न ले।

जिस आदमी के पास बहुत अधिक संग्रह होगा वह हमेशा भयभीत बना रहेगा। वह प्रायः स्वप्न देखा करता है कि चोर आ रहा है और धन को ले जा रहा है। जितने भी धनी लोग हैं और खास करके गलत ढंग से धन-संग्रही लोग भयभीत बने रहते हैं। और इसी वजह से वे अनिद्रा, बेचैनी, तनाव, भूख न लगना आदि बीमारियों से ग्रसित रहते हैं।

**3. भोग-भावना**—अधिक भोग की भावना वाले लोग भी भयमुक्त नहीं हो पाते हैं। क्योंकि भोग के लिए प्राणी और पदार्थ चाहिए और वे सब अस्थिर और चंचल हैं। भोगी आदमी हमेशा भयभीत बना रहता है कि कहीं ये भोग के साधन छूट न जायें। जितनी अधिक भोग की भावना होगी उतना ही अधिक भय की मात्रा भी होगी। भोगी आदमी को एक भय और सताता है, वह है, रोग का भय। क्योंकि स्वस्थ शरीर से ही भोग संभव है रोगी और दुर्बल शरीर से नहीं। संसार में दूसरे लोगों को रोगग्रस्त देखकर भोगी भयभीत होता है कि मुझे भी यह रोग न हो जाये।

**4. पारिवारिक आसक्ति**—आदमी अपने सृजित परिवार के प्रति आसक्त होता है और यह आसक्ति उसके दुख और भय का कारण बनती है। जो आदमी जितना अधिक आसक्त होगा उतना ही अधिक भयभीत भी होगा। क्योंकि जिन लोगों के प्रति आसक्ति होती है उनके छूट जाने का भय सदैव बना रहता है। ऐसे व्यक्ति

की यदि अचानक मौत आ जाये तो भी वह अपने से अधिक अपने परिवार वालों की चिंता करता है।

**5. अनैतिक कर्म**—ऐसे कर्म जो सामाजिक मर्यादा के विपरीत हों, भय उत्पन्न करने वाले होते हैं। अनैतिक कर्म के आदि, मध्य और अंत तीनों भय कारक होते हैं। जब मन में अनैतिक कर्म करने का भाव जगता है तो उसके साथ भय भी शुरू हो जाता है फिर उस कर्म को करते समय और कर्म के पश्चात भी भय पीछा नहीं छोड़ता है। हिंसा, चौरत्व और व्यभिचार आदि कर्मों में संलग्न व्यक्ति कभी भी भय-मुक्त नहीं हो सकता।

**6. परंपरागत रूढ़ियां एवं अंधविश्वास**—व्यक्ति परिवार-समाज में चले आ रहे अनेक रूढ़िगत बातों को लेकर भयभीत होता रहता है। वास्तव में उनका कोई वजूद नहीं होता है। जैसे भूत-प्रेत, देवी-देव, जिन्द-चुड़ैल, टोनही-टोनहा, अपशकुन, ग्रह, दिशाशूल आदि की बातें। इनको व्यक्ति परंपरा से सुनते आ रहा है इसलिए इन बातों को सत्य मानकर भयभीत होता है। शास्त्रों में लिखा है, बड़े-बड़े लोग कहते हैं, पूरा समाज मानता है तो क्या यह सच नहीं होगा। आजकल वास्तुशास्त्र वालों का बड़ा ही बोलबाला है। जितनी बड़ी पार्टि उतनी ही उसकी चांदी। आज के शिक्षा के युग में भी आदमी इन जैसे अंधविश्वासों में पड़कर पदे-पदे भयभीत होता रहता है।

### भय से होने वाली हानि

भय एक ऐसी बीमारी है जिसका शरीर और मन दोनों पर घातक प्रभाव पड़ता है। भयभीत आदमी को सामान्य जीवन जीने में भी कठिनाई होती है। अनिद्रा, भूख न लगना, घबराहट, मुंह सुखना, टट्टी-पेशाब पर वश न रह पाना, हार्टअटैक, शारीरिक शिथिलता, दिमाग का काम न करना, आत्मविश्वास की कमी आदि अनेक प्रकार की परिस्थिति का निर्माण होने लगता है। कई बार तो भय की वजह से आदमी की मृत्यु तक हो जाती है।

पश्चिम के वैज्ञानिकों ने एक शोध किया कि भय का मानव मस्तिष्क पर कितना गहरा प्रभाव पड़ता है। एक अपराधी व्यक्ति को मृत्युदण्ड देने की बात थी।

मनोवैज्ञानिकों ने कहा कि इसे हम अपने ढंग से मृत्यु देंगे। शाम के समय उसे एक कोबरा नाग दिखाकर बताया गया कि तुम्हारी मृत्यु इसके काटने से होगी। समय बताया गया शाम के सात बजे। उस अपराधी को अंधेरी कोठरी में बंद कर दिया गया और ठीक सात बजे उसे चूहे से कटवाया गया। चूंकि कोठरी अंधेरी थी इसलिए उसे यह पता नहीं चला कि यह चूहा है। अपितु सांप काटने की बात सोच लिया और सुबह तक वह व्यक्ति मर गया था। उसका जब पोस्टमार्टम किया गया तो वही विष उस व्यक्ति के शरीर में पाया गया जो कोबरा नाग में रहता है। भय की वजह से उसके शरीर में ऐसे स्राव होने लगे जिसने शरीर में विष का काम किया।

कितने लोगों को तो छोटे-छोटे जन्तुओं जैसे छिपकली, काकरोच, चूहा, बिल्ली आदि को देखकर भी पसीना छूटने लगता है। यदि ऐसा है तो यह एक बीमारी है जिसे अंग्रेजी में (Fobia) फोबिया कहते हैं। यह भय के संस्कार अधिक गहरे होने पर होता है। और ऐसे व्यक्ति को सहज जीवन जीने में भी कठिनाई होती है।

एक भाई ने बताया कि जब मैं अधिक भीड़ वाले स्थान पर जाता हूं तो मुझे घबराहट होने लगती है, पसीना आने लगता है, दिमाग काम करना बंद कर देता है। मेरी स्थिति बड़ी दयनीय हो जाती है। यदि मैं ड्राइव कर रहा होता हूं तो मुझे रुक जाना पड़ता है। उससे बारीकी से पूछा गया तो उसने बताया कि कुछ वर्ष पहले एक दुकान के पास खड़ा था। उसी समय थोड़ी दूर पर एक व्यक्ति ने एक दूसरे व्यक्ति को चाकू मार दिया। वह व्यक्ति जमीन पर गिरकर तड़फड़ाने लगा। उसे देखकर मैं घबरा गया। इसके बाद मैं जब भी ऐसे भीड़ वाले स्थान पर जाता हूं तो मुझे घबराहट होने लगती है। दिमाग काम करना बंद कर देता है।

भय जब एक बीमारी का रूप ले लेता है तब जीवन बड़ा ही अव्यवस्थित और सोचनीय हो जाता है इसे तो वही समझ सकता है जो इस भयजनक स्थिति से गुजर रहा हो या जिसके जीवन में यह स्थिति आयी हो। वास्तव में हम निर्भय होकर ही अच्छा और स्वाभाविक

जीवन जी पाते हैं। इसलिए हमें निर्भयता पूर्ण जीवन जीने के लिए प्रयास करना चाहिए।

आयें देखते हैं कि कैसे भयमुक्त रहा जाये—

1. माता-पिता और परिवार वालों को चाहिए कि छोटे बच्चों को किसी प्रकार के भय की बात बताकर उनके अन्दर भय के संस्कार न डालें बल्कि साहस और वीरता की बात बताकर उन्हें निर्भय और साहसी बनायें क्योंकि बचपन का संस्कार बड़ा मजबूत होता है।

2. साहसी और आत्मविश्वासी लोगों से संपर्क बनायें। ऐसे लोगों के पास बैठें। उनके साहचर्य से आपके अन्दर भी साहस और निर्भयता आयेगी। जिन बाबतों में आपको भय लगता है उसकी उनसे चर्चा करें उनसे समाधान मिलेगा।

3. साहसपूर्ण ग्रंथों, पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ें इससे मन में निर्भयता आयेगी।

4. प्रकृति और विश्वसत्ता पर विश्वास रखें। अपने कर्म और प्रारब्ध पर विश्वास रखें। जब तक प्रारब्ध है तब तक कुछ नहीं हो सकता। किसी में ऐसी ताकत नहीं है कि आपको कष्ट दे सके। प्रकृति और विश्वसत्ता कभी किसी के साथ गलत नहीं कर सकती। जो होगा अच्छा होगा।

5. भय का एक कारण मोह है। मोह की वजह से अनेक प्रकार के भय होता है। शरीर के प्रति मोह है तो मृत्यु का भय। धन के प्रति मोह है तो छिन जाने या चोरी हो जाने का भय। प्राणियों के प्रति मोह है तो उनके छूट जाने का भय। मान-सम्मान का मोह है तो अपमान हो जाने का भय। इस प्रकार मोह कहीं भी होगा तो उससे भय पैदा होगा। इसलिए यदि निर्भयता प्राप्त करना है, अभय स्थिति में आना है तो मोह को समाप्त करना होगा और मोह का निरसन हम विवेक से कर सकेंगे।

6. यथार्थ ज्ञान—भय का एक कारण अज्ञान है। हम भूत-प्रेत, देवी-देव, लग्न-मुहूर्त, ग्रह, दिशाशूल आदि के सम्बन्ध में भयभीत होते हैं, यह सिर्फ हमारे अज्ञान की ही उपज है। हम किसी से सुनकर या कहीं पढ़कर इस प्रकार की बातों में विश्वास करते हैं। और

अकारण ही भयभीत होते हैं। लेकिन जब हमें यथार्थ बोध हो जाता है कि यह सब केवल मानसिक भ्रम है।

## मानवता

रचयिता—धर्मेन्द्र मौर्य 'अकिंचन'

मात वसुधा के सुपुत्र हैं सब जन,  
प्रति मनु हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, इसाई है।  
चन्द्र देता शीतलता रवि सम ताप सब,  
एक ही जलधि के सब बूंद भाई-भाई हैं।  
पावक जलाये, मेघ जल बरसाये सम,  
मारुत सुखाये सर्वत्र प्रीति छाई है।  
संत-वसंत देते हमें पीत परिधान,  
करते नहीं कोई भेदभाव भाई है॥1॥

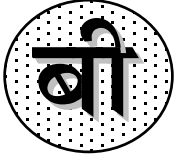
पूछता है कोई हिन्दू हो? तो कहता हूँ हां,  
क्योंकि हिन्दुस्तानी हूँ और हिन्दी गाता हूँ।  
ईमान मुसल्लम रखने का करता हूँ यत्न,  
खुद को तभी मैं मुसलमान बतलाता हूँ।  
नानक की सीख पर सिखाये चलता हूँ मैं,  
सिक्ख तभी गर्व से मैं कहलाता हूँ।  
ईसा सम सूली पर चढ़ूंगा मैं सत्य हेतु,  
मनु-सुत तभी मैं इसाई बतलाता हूँ॥2॥

यथार्थ में ऐसा कुछ नहीं होता है तो हमारा भय दूर हो जाता है। हमें विवेकी संत-गुरुजनों के सान्निध्य में यथार्थ बोध प्राप्त करके भयमुक्त होना चाहिए।

भय एक जन्मजात संस्कार है और सभी प्राणियों के अन्दर होता है। लेकिन सीमित मात्रा में होता है। वे मृत्यु के भय से ही भयभीत होते हैं, चूँकि मनुष्य मननशील प्राणी है इसलिए इसे सोच-सोच कर बढ़ा लेता है और पदे-पदे भयभीत बना रहता है। यदि ऊपर बताये गये उपायों को अपनाया जाये और विवेकपूर्वक जीया जाये तो निश्चित ही भयमुक्त हुआ जा सकता है।

वास्तव में भयमुक्त जीवन ही असली और उन्मुक्त जीवन है। हमें ऐसे जीवन जीने का पूरा अधिकार है और ऐसे जीवन जीकर हम मुक्ति का अनुभव कर

सकते हैं। अपने मानव जीवन को सफल बना सकते हैं।



## जक चिंतन

### वीतराग संतपुरुष तथा निजात्मदेव ही उपासनीय हैं

शब्द-१०

सन्त महन्तो सुमिरो सोई, जो काल फाँस ते बाँचा होई॥१॥  
 दत्तात्रेय मर्म नहिं जाना, मिथ्या साधु भुलाना॥२॥  
 सलिल मथि घृतकै काढ़िन, ताहि समाधि समाना॥३॥  
 गोरख पवन राखि नहिं जाना, योग युक्ति अनुमाना॥४॥  
 ऋद्धि सिद्धि संयम बहुतेरा, पारब्रह्म नहिं जाना॥५॥  
 वसिष्ठ श्रेष्ठ विद्या सम्पूर्ण, राम ऐसे शिष शाखा॥६॥  
 जाहि राम को करता कहिये, तिनहुँ को काल न राखा॥७॥  
 हिन्दू कहैं हमहिं लै जायें, तुरुक कहैं हमारो पीरा॥८॥  
 दोऊ आय दीन में झगरैं, ठाढ़े देखैं हंस कबीरा॥९॥

**शब्दार्थ**—काल=समय, वासना। साधु=उत्तम।  
 सलिल=पानी। घृतकै=घृत मानकर। संयम=एक ध्येय  
 वस्तु में धारणा, ध्यान तथा समाधि करना।  
 पारब्रह्म=परब्रह्म, शुद्ध आत्मतत्त्व। दीन=धर्म, मजहब।  
 हंस=विवेकी।

**भावार्थ**—हे संतो और महंतो! उसका स्मरण करो  
 जो काल के बंधनों से मुक्त है॥ १॥ अवधूत दत्तात्रेय  
 जी उस अविनाशी तत्त्व का रहस्य न जानकर तथा मिथ्या  
 वस्तु को ही उत्तम समझकर भूल गये॥ २॥ उन्होंने  
 पानी मथकर घी निकालना चाहा। वे कल्पित वस्तु को  
 सत्य मानकर उसी की समाधि में लीन  
 हुए॥ ३॥ गोरखनाथ जी महाराज ने प्राणों का निरोध  
 खूब किया, परन्तु वे निजस्वरूप का तथ्य नहीं समझ  
 सके। उन्होंने योग के विषय में काफी युक्तियों का  
 अनुमान किया, किसी ध्येय-वस्तु में धारणा, ध्यान एवं  
 समाधिरूप संयम भी उन्होंने बहुत किया। वे ऋद्धि-सिद्धि  
 पाने के लिए हठयोग के धंधे में लगे रहे, परन्तु शुद्ध  
 आत्मतत्त्व को नहीं समझ सके॥ ४-५॥ वसिष्ठ श्रेष्ठ  
 विद्वान् थे, वे संपूर्ण वेद-विद्या के ज्ञाता थे। उनकी शिष्य-  
 परंपरा में मर्यादापुरुषोत्तम श्री राम-जैसे महापुरुष थे,  
 परन्तु वे वसिष्ठ जी भी जीवन भर केवल धार्मिक तथा

राजनैतिक राजगुरु ही बने रह गये, सांसारिकता के ऊपर  
 तथा परमतत्त्व की स्थिति तक नहीं पहुंच  
 सके॥ ६॥ जिस श्रीराम को लोग जगतकर्ता कहते हैं  
 उन्हें भी मौत ने नहीं रहने दिया और उन्होंने साथियों  
 सहित सरयू में प्रवेशकर अपने जीवन का अंत  
 किया॥ ७॥ हिन्दू कहते हैं कि हम तो मुरदे को लेकर  
 जलायेंगे और मुसलमान कहते हैं कि अपने पीरों के  
 फरमान से हम मुरदे को गाड़ेंगे। इस प्रकार दोनों छोटी-  
 छोटी बातों को धर्म के मुद्दे बनाकर आपस में झगड़ते हैं।  
 विवेकवान ऐसी बातों को तटस्थ होकर देखते हैं, झगड़े में  
 नहीं पड़ते॥ ८-९॥

**व्याख्या**—साहेब संतों और महन्तों दोनों को निर्देश  
 देते हैं कि “सुमिरो सोई, जो काल फाँस ते बाँचा होई।”  
 इस पंक्ति में ‘सोई’ शब्द महत्त्वपूर्ण है। यह ‘सोई’ सर्वनाम  
 यहां किसके लिए प्रयुक्त है? जो काल-फाँस से बचा हो।  
 काल के दो अर्थ हैं समय तथा वासना। इसी प्रकार सोई  
 के भी दो अर्थ हैं अविनाशी निजस्वरूप चेतन तथा  
 वासनाओं से मुक्त महापुरुष। यह निजस्वरूप चेतन, यह  
 आत्मा अमर है। यह काल-फाँस से, समय की सीमा से  
 परे है। यह तीनों कालों में विद्यमान अजन्मा एवं  
 अविनाशी है। सद्गुरु निर्देश करते हैं कि संत-महंतो!  
 परिणामी भौतिक पदार्थों का स्मरण एवं चिन्तन छोड़कर  
 अपने अविनाशी चेतनस्वरूप का स्मरण करो। परन्तु इस  
 स्वरूपबोध में स्थित होने के लिए सहारा चाहिए, तो  
 सहारा उन महापुरुषों का लो जो वासना-काल से परे हैं।  
 जिनके मन में राग-द्वेष, ममता-मोह-द्रोह तथा किसी  
 प्रकार मलिनता नहीं है, जो स्वच्छ-चित्त निर्मल संत पुरुष  
 हैं उनकी शरण लो, उनकी सेवा करो, उनका ध्यान करो,  
 उनको समर्पित हो जाओ। वे तुम्हें वासनामुक्त होने में  
 सहयोग करेंगे। सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने भी कहा है—  
 “उन्हीं का चरणोदक लेना ठीक है, उन्हीं का महाप्रसाद  
 लेना ठीक है तथा उन्हीं के नित्य दर्शन करना ठीक है  
 जिनकी उपाधि मिट गयी है, जिसके मन के सारे मोह-  
 शोक बीत गये हैं।”

तिनको चरणोदक सही, तिनको महा प्रसाद।

तिनको दर्शन नित्य सही, जिनकी मिटी उपाधि

प्राणी, पदार्थ, सम्मान, प्रतिष्ठा तथा माया के ऐश्वर्यों से सम्पन्न महामंडलेश्वरों, आचार्यों तथा जगद्गुरुओं की तो भीड़ है। इनमें भी राग-द्वेष से पार पुरुष हो सकते हैं। परन्तु साधकों को चाहिए कि वे बड़े-बड़े नामों के चक्कर में न पड़ें, किन्तु जो मन के स्वच्छ संत हैं उनकी शरण लें, उनकी सेवा करें, प्रथम मन-निरोध के लिए उनका ध्यान करें। जो राग-द्वेष में लिपटा हो उसकी उपासना से मन शुद्ध नहीं हो सकता। उसकी उपासना से तो मन और खराब होगा। अतः जो काल-फांस से बचा हो, राग-द्वेष की फांसी से मुक्त हो, ऐसे स्वच्छ संत की शरण, स्मरण, उपासना साधकों के लिए कर्तव्य है। साधु को भी ऐसे संतों की उपासना करनी चाहिए तथा महन्तों को भी। महंत मठ या समाज का प्रबन्धक होता है। उसे उसके गर्व में नहीं पड़ जाना चाहिए। उसका कल्याण भी तभी होगा जब वह वासना एवं राग-द्वेषरूपी काल से छूटे हुए संतों की उपासना करेगा।

निर्मल संतों एवं सद्गुरु से प्रेरणा लेकर अंततः तो निज चेतनस्वरूप में ही स्थित होना होगा। हमारा मन हर समय देह-गेहादि सांसारिक पदार्थों का स्मरण करता है, जो जड़, अनात्म, नाशवान तथा छूटने वाले हैं। इसीलिए हम भवबन्धनों में बंधकर संसार-सागर में बहते रहते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि परिणामी तथा अनात्म वस्तुओं का स्मरण एवं राग छोड़ दो। तुम निरंतर अपने अविनाशी चेतन स्वरूप का स्मरण करो। मैं अजन्मा हूँ, अविनाशी हूँ, नित्य हूँ, अमर हूँ, कालातीत हूँ—इस भाव में रमण करो। यही शोकमुक्त होने का पथ है, यही जीवन्मुक्ति का मार्ग है। इसके अलावा सब भटकाव है।

दत्तात्रेय जी बहुत बड़े अवधूत हुए। उन्होंने तपस्या की, यह ठीक है, परन्तु उन्होंने अग-जग सारा विश्व अपना स्वरूप मान लिया। उन्होंने जड़-चेतन का विवेक नहीं किया। उनके ख्याल से चेतन भी ब्रह्म, जड़ भी ब्रह्म। 'मैं सबका साक्षी हूँ' इस दशा में न रहकर जड़-चेतन एक में मिला दिये। 'मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ और सारा विश्व मेरा स्वरूप है' यह एक मिथ्या अवधारणा है, परन्तु इसे ही

(वैराग्य शतक)

साधु मान लिया गया, "मिथ्या साधु भुलाना"। मिथ्या को उत्तम एवं सत्य समझ लिया गया। यह तो मानो पानी मथकर घी निकालने-जैसी बात हुई। जड़-चेतन एक समझना ही अविद्या है और इस अविद्या को ही यहां ज्ञान मान लिया और इसी भावधारा में समाधि लगायी गयी, इसी भाव में अपना मन लीन किया गया, तो जड़-प्रकृति से छुटकारा कहाँ हुआ !

महाराज गोरखनाथ जी महान तपस्वी और हठयोगी हुए। उन्होंने प्राणायाम को खूब साधा, हठयोग की नयी-नयी युक्तियाँ निकालीं, नाद-ज्योति आदि को अपना ध्येय बनाकर उनमें धारणा, ध्यान तथा समाधि रूप संयम किया, इन सबसे ऋद्धि-सिद्धि के भी काफी प्रपंच जुड़े। किसी एक ध्येय में जब धारणा, ध्यान तथा समाधि हो जाती है तब इस एकाग्रता को 'संयम' कहा जाता है। योगदर्शन में बताया गया "पदार्थों के परिणाम में संयम कर लेने से भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल का ज्ञान हो जाता है। शब्द, अर्थ तथा ज्ञान में संयम कर लेने पर सम्पूर्ण प्राणियों की भाषा का ज्ञान हो जाता है। संस्कारों में संयम कर लेने पर पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। शरीर का संयम कर लेने पर योगी अंतर्धान हो जाता है। बलों में संयम कर लेने पर हाथी-जैसा बल हो जाता है। प्रकाश में संयम कर लेने पर देश-विदेश तथा परदे में पड़ी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। सूर्य में संयम कर लेने पर समस्त लोकों का ज्ञान हो जाता है। मूर्धा की ज्योति में संयम कर लेने पर सिद्ध पुरुषों के दर्शन होते हैं। यहां तक कि विभिन्न संयम कर लेने पर योगी दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाता है, पानी-कीचड़ पर चलते हुए भी उसे कुछ स्पर्श नहीं करता, वह आकाश में उड़ता है, वह अपने रूप को छोटा बना लेता है, बड़ा बना लेता है, सर्वज्ञ हो जाता है इत्यादि।" इसके लिए योगदर्शन का तीसरा पाद देखने योग्य है।

उक्त काल्पनिक एवं मायावी बातों में यदि योगी पड़ा रहा तो वह परब्रह्म को कैसे जान सकता है? 'पर' कहते हैं एकदम निराले को। जो तीनों गुणों से अलग है, वह 'पर' है, 'ब्रह्म' कहते हैं श्रेष्ठ को। जो जड़-प्रकृति से एकदम निराला, पृथक एवं श्रेष्ठ है वह निजस्वरूप चेतन

ही है। अतएव व्यक्ति की शुद्ध चेतना ही परब्रह्म है। परन्तु ऋद्धि-सिद्धि के चक्कर में पड़ा हुआ एवं नाद तथा ज्योति को अपना लक्ष्य समझने वाला योगी निजस्वरूप का मर्म नहीं जान सकता। नाद-ज्योति, कल्पित ऋद्धि-सिद्धि आदि सबका त्याग करके ही निज चेतनस्वरूप में स्थिति होती है।

सद्गुरु कबीर कहते हैं कि वसिष्ठ जी अपनी जगह पर महान हैं। वे वेद-विद्या के सम्पूर्ण ज्ञाता माने जाते हैं, श्रीराम-जैसे महापुरुष उनके शिष्य हैं। वे रघुवंश के धार्मिक पथप्रदर्शक रहे और राजनीति में भी उनकी राय जितनी सुनी जाती थी, वे देते थे। वे राजा दशरथ को यह राय नहीं दे सके थे कि भरत-शत्रुघ्न को बुलाकर श्रीराम का राजतिलक होना चाहिए। सीतानिर्वासन करने के समय श्रीराम ने गुरुमहाराज की राय लेने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। अतएव वसिष्ठ एक राजघराने के गुरु तथा पुरोहित रहे तथा राजा की राय में 'हां' करने वाले थे और संसारी आदमी थे। संसारासक्ति से अलग होकर निजस्वरूप में स्थिति की बात इन सबसे अलग होती है। वसिष्ठ जी गृहस्थ-गुरु हैं। काल-फांस से बचे हुए गुरु तो विरक्त होते हैं। संत विरक्त गुरु की उपासना करते हैं, गृहस्थ गुरु की नहीं।

यदि श्रीराम को कोई उपासना का विषय बनाये तो उसकी भावना है, वह बना सकता है। परन्तु यह समझना चाहिए कि वे संसार के हर्ता-कर्ता नहीं थे कि उनकी उपासना करने से वे खुश होकर तुम्हें मुक्ति दे देंगे या अपने स्वर्गलोक में बुला लेंगे। वे भी सामान्य मनुष्य की तरह मां-बाप से पैदा होकर एक दिन शरीर त्यागकर चले गये। दूसरी बात वे वासना से भी मुक्त नहीं थे। वे एक राजा थे, बाल-बच्चे वाले गृहस्थ थे और सांसारिकता में लिपटे थे। साधक को तो उपासना का विषय वीतराग को बनाना चाहिए। योगदर्शन कहता है—“वीतरागविषयं वा चित्तम्” अर्थात् जिनके राग-द्वेष बीत गये हैं उनका ध्यान करने से मन निर्मल होता है। श्रीराम हमारे पितामह हैं, श्रद्धेय हैं, आदरणीय हैं, यह सब ठीक है; परन्तु साधक

की उपासना का विषय तो विरक्त ही बन सकता है। संत गृहस्थ की उपासना नहीं करता, वह विरक्त की उपासना करता है। “सन्त महन्तो सुमिरो सोई, जो काल फाँस ते बाँचा होई।” कोई भी साधक हो, गृहस्थ हो या विरक्त, उसे राग-द्वेष से छूटे हुए विरक्त संत की उपासना करनी चाहिए और अंततः निज अविनाशी स्वरूप चेतन एवं आत्माराम की, न कि श्रीराम की।

साहेब इस शब्द के अन्त में कहते हैं कि हिन्दू-मुसलमान आदि मजहबी भावना वाले लोग साधारण बातों को धर्म के मुद्दे बना लेते हैं और उन्हीं तुच्छ बातों को लेकर आपस में लड़ते रहते हैं। जैसे हिन्दुओं ने मुरदे को जलाना परम धर्म मान लिया, मुसलमानों ने उसे गाड़ना परम धर्म मान लिया—इन बातों में क्या रखा है! शरीर से जब जीव निकल जाता है तब इसका फुकंत, गड़ंत तथा लुटंत होता है। इसे जला दिया या जमीन में गाड़ दिया या जल या किसी सुनसान में छोड़ दिया जिसे जलजंतु या चील-गीध, सियार-बीग खा गये। जहां जैसी योग्यता हो वहां वैसा कर देना चाहिए। गाड़ने की जगह नहीं है और गाड़ने का हठ किये बैठे हैं, जलाने की सुविधा नहीं है और जलाने का हठ किये बैठे हैं। यह गलत बात है। लाश को ठिकाने लगाना है, जब जैसी सुविधा हो वैसा कर लेना चाहिए। किसी एक रूढ़ि की पूंछ पकड़कर बैठे नहीं रहना चाहिए। कबीर साहेब कहते हैं कि जो हंस है, नीर-क्षीर विवेकी है, वह बड़ी-बड़ी कही जाने वाली बातों में नहीं उलझता, तो इन तुच्छ बातों में क्यों उलझेगा! वह यह सब तमाशा खड़ा होकर देखता है, वह सबका तटस्थ द्रष्टा रहता है, मध्यस्थ रहता है, किसी की पूंछ पकड़कर रूढ़िवादी नहीं होता।

## बोध की सार्थकता

रचयिता—राधाकृष्ण कुशवाहा

स्वस्वरूप छोड़कर के कुछ भी अपना नहीं,  
विषय कल्पना को भवबन्धन समझना।  
काम क्रोध लोभ मोह, साक्षात् नरक द्वार;  
आशा कामनाओं में कभी न अरुझना।  
मन का ही मोह-राग माया का प्रबल रूप;



तृष्णा की राक्षसी को प्रतिक्षण बरजना।  
त्याग सब विकारों को, सद्गुण को धारणकर,  
होकर स्वरूपस्थ फिर तो काल से गरजना॥

# मुक्तिदाता

लेखक—श्री धर्मदास

भारतीय उपमहाद्वीप के लोक जीवन में 'मुक्तिदाता' का संदर्भ पाया जाना बहुत आम है। गांव से बड़े-बड़े शहरों तथा किसान से महाज्ञानी पंडितों की वाणी में भी यह शब्द प्रचलित है। आम धारणा दृढ़ता से व्याप्त है कि ईश्वर हमें सभी प्रकार की कामनाओं को प्रदान करने एवं सब प्रकार के कष्टों से मुक्त करने में सक्षम है। वह हमारे ऊपर कृपा तभी बरसाता है जब हम उसे प्रसन्न करने में सफल हो जाते हैं। उस ईश्वर के अनेक नाम हैं और रूप भी अनेक हैं। जितने नाम और रूप हैं उतने प्रकार की पूजा से उन्हें प्रसन्न किया जा सकता है। भारतीय दर्शनशास्त्र में व्याख्या है कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव क्रमशः सृष्टि रचना, स्थिति यानि पालन-पोषण तथा विनाश करते हैं। ईश्वर के विभिन्न नामों एवं रूपों के अनुरूप सम्प्रदाय हैं तथा उन्हें प्रसन्न करने के लिए साम्प्रदायिक पूजा-विधान भी अलग-अलग हैं। कोई पत्र-पुष्प से प्रसन्न होता है कोई मोदक से और कोई गांजा, भांग, धतूरा से भी प्रसन्न हो जाता है। इन तथ्यों का निष्कर्ष है कि ईश्वर (तथा दैवीय प्रतिनिधि) मुक्तिदाता है।

'मुक्तिदाता' मुक्ति तथा दाता दो शब्दों के योग से बना है। मुक्ति का अर्थ छुट्टी, छुटकारा, मोक्ष आदि शब्दकोष ने बताये हैं। धार्मिक क्षेत्र में 'शरीर से आत्मा का बिछुड़ना' तथा 'जन्म-मरण चक्र से छुटकारा पाना' के संदर्भ में 'मुक्ति' शब्द का प्रयोग होता है। मुक्ति के उपर्युक्त सभी अर्थ क्रियात्मक हैं। दाता का अर्थ देने वाला, उपकारक, हितकारी अथवा संरक्षक होता है। प्रार्थना में हम जब दाता, हितकारी, विघ्नहर्ता, विनायक जैसे अलंकृत शब्दों से गुणगान करते हैं तब हमारा अभिप्राय चिकनी-चुपड़ी बातों से ईश्वर को रिझाना होता है। संसार में प्रामाणिक लेखा-जोखा अभी तक नहीं मिला है जिससे प्रमाणित हो सके कि किन-किन व्यक्तियों को उनकी भक्ति एवं प्रार्थना से रीझकर ईश्वर

उन्हें मुक्ति प्रदान कर चुके हैं यद्यपि माना जाता है कि मनुष्यों के द्वारा प्राचीनतम परिकल्पना "ईश्वर" है। धरती पर उपलब्ध चारवेद सबसे प्राचीन ज्ञान भण्डार कोष माने गये हैं जिनमें प्रत्यक्षतः 'ईश्वर' शब्द नहीं है। वैसे सभी मतवादी कहते हैं कि उनके ग्रन्थ ईश्वर रचित हैं या ईश्वर द्वारा उद्घाटित हैं।

भारतवर्ष में उपनिषदें अध्यात्मविद्या के प्रधान स्रोत हैं जिनमें ज्यादा प्रसिद्ध और प्रामाणिक उपनिषदें ग्यारह हैं। 'उपनिषद्'—उप (निकट) तथा निषद् (बैठना) का अर्थ स्पष्ट करता है कि गुरु के निकट बैठकर अध्यात्मविद्या प्राप्त करना, शास्त्रों एवं प्रकृति रचना का विवेकपूर्ण चिन्तन-मनन द्वारा सच के निकट पहुंचने का प्रयास। डॉ. राधाकृष्णन भारतीय दर्शन, भाग-1, पृ.113 में लिखते हैं कि "उपनिषदों का अपना कोई दार्शनिक सिद्धान्त अथवा आस्तिकवाद की कोई विशेष रूढ़िगत योजना नहीं प्रतीत होती। जीवन में सत्य क्या है, इसकी ओर तो उपनिषदों में संकेत है किन्तु अभी तक भौतिक विज्ञान अथवा दार्शनिक विचारों का संकेत नहीं मिला। सत्य सम्बन्धी संकेत उपनिषदों में इतने अधिक हैं, ईश्वर सम्बन्धी कल्पनाएं भी इतनी विविध हैं कि कोई भी व्यक्ति उनके अन्दर से अपना अभिलषित सिद्धान्त ढूंढ निकाल सकता है, और जो ढूंढता है उसे प्राप्त कर सकता है और प्रत्येक रूढ़िवादी सम्प्रदाय के लोग अपने-अपने सिद्धान्तों को उपनिषद् के वाक्यों में से ढूंढ निकालने पर अपने को बधाई दे सकते हैं।" यह मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि वेदों की भांति उपनिषदें भी किसी अलौकिक ईश्वर को मुक्तिदाता के रूप में स्थापित करने के लिए प्रतिबद्ध प्रतीत नहीं होते।

वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों से प्रभावित समाज को उनके विश्वासों के खोखलेपन को उजागर करने के उद्देश्य से भौतिकवाद-चार्वाक का विचार खुलकर सामने आया। विद्वानों ने 'सर्वदर्शन संग्रह' से

अनेकों मंत्र उद्धृत किये हैं जिनके आधार पर कहा जाता है कि चार्वाक ने वेद, स्वर्ग, मोक्ष, अन्यलोक, आत्मा, ईश्वर, श्राद्ध-तर्पण जैसे धार्मिक विश्वासों एवं मान्यताओं का निषेध बड़े कटु शब्दों में किया है। व्यक्ति के लिए ऐसे किसी विचार को स्वीकार करना आवश्यक नहीं जिसका समर्थन तर्क एवं विवेक की कसौटी द्वारा प्राप्त न हो सके। रूढ़िवाद और अंधविश्वास मनुष्य को कमजोर बनाता है तथा तर्क एवं विवेक को नष्ट करता है। चार्वाक सिद्धान्त ने अपने समय में प्रचलित रूढ़ियों से लोक जीवन को मुक्त करने का साहसिक प्रयास किया। अतएव चार्वाक दर्शन उस युग को भूतकाल के बोझ से, जो समाज को दबा रखा था, छुटकारा दिलाने वाला था। कुछ हदतक यह मुक्तिदाता का कार्य था। धार्मिक रूढ़िवाद के बोझ से असहाय लोक जीवन को उबारना सरल नहीं होता क्योंकि लाभ पाने वाला वर्ग विविध कठिनाइयां उत्पन्न करता है।

कबीर के आविर्भाव के कुछ सदी पहले से ही उत्तरभारत में भक्ति एक आंदोलन के रूप में उभर रही थी। श्री कृष्ण और श्रीराम वैष्णव धर्म के मानने वालों में विष्णु के दो अवतार थे। कुछ मानते थे कि कृष्ण सर्वोच्च परमेश्वर हैं तो कुछ के इष्ट राम ही सर्वश्रेष्ठ थे। संत कबीर के समकालीन धर्माचार्यों में बल्लभाचार्य (जन्म 1479 ई.) वृंदावन में कृष्ण भक्ति शाखा के एक प्रमुख थे। जब कबीर अंधेड़ अवस्था में थे तब बल्लभ अपने मत के प्रचारक थे। कबीर के देहांत के कुछ वर्ष पूर्व 1515 ई. में बल्लभ के पुत्र विट्ठलनाथ पिता की गद्दी पर विराजमान हुए थे। दूसरी तरफ सबसे बड़े रामाचार्य स्वामी रामानंद थे जिन्होंने वैष्णव मत में विष्णु और लक्ष्मी के स्थान पर श्रीराम और सीता को अपना इष्ट माना। रामानंद कबीर के गुरु थे या दोनों के बीच काल-भेद था, अब तक विवाद का एक विषय है। उस समय के प्रमुख भक्त कवि नरसिंह मेहता (गुजरात), मैथिली कवि विद्यापति (तिरहूत), मीराबाई (राजस्थान) तथा रैदास (बनारस) बड़े प्रसिद्ध थे। बंगाल में चैतन्य कृष्ण की प्रेममयी भक्ति और रस कीर्तन के उपदेशक थे।

कबीर का जीवन व्यतीत हुआ उसी वातावरण में जिसमें उल्लिखित धर्माचार्यों का हुआ। लेकिन उनका व्यक्तित्व उन सबसे भिन्न था। वे सभी पूजित एवं अभिजात श्रेणी के थे जबकि कबीर उपेक्षित वर्ग के थे। कबीर वहां भ्रमण करते थे जहां लोक जीवन विद्यमान था। कहार, धोबी, नाई, जुलाहे, रंगरेज, मछुआरा, अछूत जहां गाते या रोते थे वहां कबीर पहुंच जाते थे। इसीलिए कबीर ने उन्हें अपनी बानियों में पिरोया तथा उनके साथ मिलकर खुशी के गीत गाये और दुःखों का रोना भी रोया। चूंकि कबीर जनसाधारण के एक सदस्य थे इसलिए उनके दुःखों के लिए आंसु बहाये तथा उन्हें ढाढस बंधाये और उनमें आत्मविश्वास जगाये। कहावत सच है कि जिसके पैर में कांटा चुभता है वह स्वयं निकालता है, दूसरा तो दूर खड़ा सलाह देता है। पीड़ित, शोषित, अधमरे-भूखे-नंगे सबमें कबीर स्वयं को पाते थे तभी तो उनकी बानी फूटी—‘घाव काहि पर घालो, जित देखो तित प्राण हमारो (सा. 341)।

मुक्ति पाने या दिलाने के लिए किसी मध्यस्थ भगवत्कृपा का विधान कबीर की विचारधारा में नहीं है फिर भी तत्कालीन जनभावना में भगवान का नाम आस्था का विषय था जिसके बिना भक्ति में विश्वास जगाना कठिन था। अतः उन्होंने ‘राम’ को इष्ट माना। ध्यान रहे दाशरथि रामचन्द्र को नहीं। उनका प्रसिद्ध वाक्य है—‘दाशरथ सुत तिहुं लोकहि जाना, रामनाम का मर्म है आना’ (बी.श. 109)। कबीर का ‘राम’ व्यक्तिगत साधना का विषय है। सांसारिक प्रपंचों से मुक्ति दिलाने में उसका कोई हस्तक्षेप नहीं है। यहां तक कि मुक्ति के लिए कबीर-सम्प्रदाय में दीक्षित होना भी जरूरी नहीं है। उनकी बानियां रोडमैप हैं जिस पर मुक्ति पथ का संकेत चिह्न अंकित हैं। संकेत युक्त मार्ग पर चलने वाले प्रत्येक राही को गन्तव्य पाना सुलभ होता है। उनका पथ जाति, धर्म, मत, पंथ, रंग और स्त्री-पुरुष के भेद-भाव बिना मानव जाति को सुलभ है।

संसार के इतिहास में सिद्धार्थ-बुद्ध ऐसा पहला व्यक्ति था जिसने अनुभव किया था कि मानव-जीवन में

दुःख सत्य है पर दुःख दूर करने का उपाय है। उनके पश्चात् 2000 साल के अन्तराल में, उनके प्रारंभिक मत को छोड़कर, कोई अन्य ऐसा मौलिक चिन्तक नजर नहीं आता। अधिकांश ने उनके मतों का उच्छेदन करने में समय बिताया था तो कुछ ने तंत्र-मंत्र, योग-हठ के दैहिक साधना तथा पंचमकारों में मुक्ति-मार्ग का अनुसंधान करने में चिन्तन किया। इन सब विकृतियों के बीच भक्ति मार्ग का उदय हुआ, परन्तु मुक्तिदाता-अवतारों को प्रसन्न करने में जन-मानस दिशाहीनता एवं अंधविश्वास का शिकार हुआ। फलतः बौद्धिक शोषण के मकड़जाल में उलझता चला गया। इन्हीं विकट परिस्थितियों में संत कबीर का आविर्भाव हुआ जिन्हें बुद्ध से विपरीत वातावरण एवं विरोधियों का सामना करना पड़ा। तत्कालीन स्थिति में उत्तर भारत का हिंदू स्वयं को दो राहे पर खड़ा पाता था। एक मार्ग था मुसलमान बन जाये जहां सुख-सुविधा के साथ सत्ताधारी वर्ग में शामिल होने का मौका था तो दूसरा था—अपने पूर्वजों के संस्कारों पर चले लेकिन दोगम दर्जे का नागरिक बनकर जजिया टैक्स भरे तथा बहिन-बेटियों की आबरू की रक्षा करने की चिंता में डूबा रहे। 'हिन्दू कहीं तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाहिं'—मुक्ति-पथ का पहला उद्घोष कबीर ने किया। इस कथन पर अनेक शंकाएं उभरना स्वाभाविक था जिनकी व्याख्या उन्होंने इस प्रकार रखा।

वेद कितेब कहा किन झूठा, झूठा जो न विचारे (1)  
 सब घट एक-एक के लेखे, भय दूजा के मारे (2)  
 जेते औरत मर्द उपाणे, सो सब रूप तुम्हारा (3)  
 कबीर पोंगरा अल्लाह राम का, सो गुरु पीर हमारा (4)  
 (बी.श. 97)

वेद हो या किताब (कुरआन शरीफ) कोई झूठा नहीं है। झूठा तो वह है जो वेद को मानता है पर वेद की नहीं मानता; कुरआन को मानता है पर कुरआन की नहीं मानता। हिन्दू हो या मुसलमान अपने-अपने धर्मग्रन्थों की पूजा तो करते हैं किन्तु उनकी सारग्राही बातों पर विश्वास नहीं करते। जिसने वेद नहीं पढ़ा है वह भी वेद का अपमान कहकर किसी को भी मारने

दौड़ पड़ता है; जिसने कुरआन नहीं पढ़ा वह गैर-मुसलमानों को ईश-निन्दक कहता है। यह ज्ञात होना चाहिए कि मूल कुरान अरबी भाषा का एक ग्रंथ है जिसके जानने वालों की संख्या बहुत कम है। पाकिस्तान में गैर मजहबी लोगों पर कुरआन के पत्रे अपवित्र करने के नाम पर अक्सर हंगामा होने की खबरें आती रहती हैं। कबीर युग में भी इस्लाम राज-धर्म था। अतः मुमकिन है ऐसी घटनाएं घटी हों। (1)

मानव शरीर मूलतः एक समान ही होता है, बाद में 'तिलक-जनेऊ' जब पहन लेते हैं तब हिन्दू बन जाते हैं, खतना कराकर मुसलमान बन जाते हैं। सबके अन्दर एक आत्मा या रूह है जो शुद्ध रूप में परमात्मा का रूप है फिर भी एक दूसरे को मारने दौड़ते हैं अथवा मारे जाने से भयभीत रहते हैं। अतएव किसी को मारने से भय करो। धर्म-संप्रदाय के नाम पर अपना-बेगाना के जहर का बीज बोने से परहेज करो। (2)

संसार में जितने औरत या मर्द पैदा होते हैं उन सब की सूरत वैसी ही है जैसी तुम्हारी। स्त्री और पुरुष के शरीरों में अलग-अलग लक्षण हैं किन्तु ब्राह्मण-शूद्र, हिन्दू-मुसलमान, ईसाई-यहूदी के शरीर की रचना से अलग नहीं किया जा सकता। काला हो या गोरा शरीर तो मानव का ही है। उनमें लिंगों के भेद अवश्य हैं परन्तु तात्त्विक भेद नहीं है। फिर एक शरीर से उपजा बालक पूजनीय और दूसरे शरीर से उपजा बालक निन्दनीय कैसे? मंदिर-मस्जिद-चर्च के आधार पर मनुष्यों के चेहरे नहीं बदलते। (3)

कबीर का मन्तव्य स्पष्ट है कि जितने भी अवतार या पैगम्बर हैं, तुम भले अलग-अलग नामों से पुकारते हो हमारे लिए तो जैसे राम और कृष्ण हैं वैसे ही मुहम्मद और ईसा मसीह हैं। मैं उन्हें अपना गुरु-पीर मानता हूँ। (4)

इन पंक्तियों में उन्होंने कुछ बन्धनों की ओर इशारा किया, वे हैं : धर्म-सम्प्रदाय, धर्मग्रंथों पर अंधीश्रद्धा, औरत-मर्द का अंतर, अवतार एवं पैगम्बर में श्रेष्ठता आदि। इन कृत्रिम बन्धनों को हम स्वयं निर्मित करते हैं और अपने ही गले का फांस बना डालते हैं : 'आपै बंधे

करम की रस्सी, करि गरि के फंदा'। इन कृत्रिम बन्धनों का बीज तो उसी रोज से पड़ना शुरू हो जाता है जब जन्म के छठवें दिन में हम पहुंचते हैं।

*'जहिया जन्म मुक्ता हता, तहिया हता न कोय।*

*छठी तुम्हारी हौं जगा, तू कहां चला बिगोय।।*

(बीजक, साखी-1)

यह सामान्य ज्ञान की बात है कि जब मां के गर्भाशय में शरीर की रचना प्रारम्भ होती है तो शरीर मां के नाल से बंधा होता है जिससे पोषण होता है। गर्भ-वास में जीव सुरक्षात्मक परतों में उलटा (सिर नीचे-पैर ऊपर) बंधा रहता है। नौ मास की कैद से बंधन मुक्त होकर शिशु जन्म ग्रहण करता है। कबीर कहते हैं तुम उस रोज आजाद थे। प्रकृति ने तुम्हें अपने बंधनों से मुक्त कर दिया था, कोई बंधन नहीं था तब। लेकिन अपनी आजादी खोकर तुम कहां जा रहे हो, कभी गौर किये? दरअसल जिस रोज तुम्हारी छठी (जन्म के छठे दिन) का उत्सव था, उसी रोज से तुम संसार के बन्धनों में बंधने लग गये थे। छठी मनाने का प्रचलन ग्रामीण क्षेत्रों में अतिप्राचीन है। डॉ. पा. वा. काणे धर्मशास्त्र का इतिहास प्रथम भाग में लिखते हैं—वैदिक ग्रन्थों में 40 संस्कारों का विवरण मिलता है जिनमें जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल तथा उपनयन (कुल पांच) शिशुकाल के संस्कार हैं (पृ. 177)। 'उपनयन' संस्कार भारतीय लोक जीवन पर गहरा प्रभाव डालता है। ब्राह्मण कुमार का उपनयन जन्म से लेकर आठवें वर्ष, क्षत्रिय का 11वें वर्ष एवं वैश्य का 12वें वर्ष में होना चाहिए (आ.गृ. 1/19/1-6, वही, पृ. 211)। संक्षेप में उल्लेख करना अनुचित न होगा कि शूद्रों के लिए 'उपनयन' संस्कार का विधान नहीं है। वर्तमान में स्त्री के लिए भी उपनयन वर्जित है इसीलिए शूद्र और स्त्री (भले द्विजों की स्त्री हों) को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। इस प्रसंग का सार है कि जिस रोज छठी का जागरण होता है उसी रोज से हिन्दू में जातकर्म, मुस्लिम संस्कार में 'खतना' तथा ईसाई में बपतिस्मा के संस्कारों के द्वारा शिशु को साम्प्रदायिक बंधनों में बांधना प्रारम्भ हो जाता है। बालक रूप में माँ-बाप की अंगुलियां

पकड़कर, फिर पीछे-पीछे और बड़े होकर अकेले-अकेले सामाजिक विभाजन के मार्गों पर चलते चले जाते हैं। कभी तुम मुड़कर देखते भी नहीं कि तुम किस दिशा में जा रहे हो और क्यों? अर्थात् तुम अपनी स्वतंत्रता खोते चले जा रहे हो और इस पर गौर भी नहीं करते।

प्रसिद्ध है कि बुद्ध और महावीर ने अनेक वर्षों तक जंगलों में तप किया तब आत्मबोध हुआ जिसे संसार के समक्ष रखा। उनके मतों के आधार पर यदि समाज का हर व्यक्ति सुधर जाये तो समाज अपने आप सुधर जायेगा। लेकिन कबीर लोगों के बीच विचरते थे जिससे उन्हें समाज को जानने, सुनने और समझने का अवसर मिला। तब अनुभव किया—

*बहु बन्धन से बाँधिया, एक बिचारा जीव।*

*की बल छूटै आपने, की रे छुड़ावै पीव।।*

(बी.सा. 211)

अर्थ सरल है—एक बेचारा जीव बहुत बंधनों में बंधा है। या तो स्वयं बंधनों से मुक्त हो जाये, या कोई पीव (स्वामी, मालिक, गुरु) उसे छुड़ा दे। अगर कबीर-युगीन समाज पर नजर डालें तो दो तरह के लोग मिलते हैं, एक स्वच्छन्द और दूसरा बेचारा यानी असहाय। जो प्रथम श्रेणी के थे उनके लिए भूत-प्रेत, देवी-देवता, शुभ-अशुभ, ग्रह-लग्न, जादू-टोना, दिशा-शूल, वर्ण-आश्रम, जाति-पांति तथा ऊंच-नीच आदि स्वनिर्मित बंधन थे। सूक्ष्मतर स्तर पर वे लोग काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि का शौक पालने में समर्थ थे। ये राज-रोग थे जो अति भोग का फल था। अतः वे पीर-मुरशिद, पंडा-पुजारी, ओझा-सिद्ध, तांत्रिक-ज्योतिषी के यहां अपनी मुक्ति की तलाश करते थे। वैसे ही साधन सम्पन्न लोग गांजा-भांग, शराब, अफीम, वेश्यागमन जैसे दुर्व्यसनों का सेवन करने में सक्षम एवं स्वतंत्र थे। जो बेचारा-असहाय थे उनके पास इन बंधनों को पालने के लिए साधन कहां थे। वे समाज में दुर्बल, निरीह तथा बौद्धिक शोषण के शिकार थे। वे न तो अपनी मर्जी से अपना धंधा बदल सकते

थे, और न तो अपनी मर्जी से मर ही सकते थे। मध्ययुग में प्राचीन दास प्रथा रूपान्तरित होकर 'बंधुआ' मजदूर का रूप ले लिया था जो बाप के बाद बेटा, फिर उसके बेटा...के क्रम में अन्तहीन था। सामंत और बनिया इसको दृढ़ करते थे। इनके कच्चे बही-खाता से बेचारा कभी नहीं उभरता था। सामंतों और दबंगों के लिए असहाय लोग बेगार के लिए विवश थे जिसके बदले दैनिक मजदूरी नहीं दी जाती थी। अनेक निर्बल जाति-समूह 'पौनिया' के नाम से जाने जाते थे जैसे नाई, बढई, धोबी, कुम्हार, लोहार। जमींदारों और काशतकारों की ये पूरे साल अपनी जातिगत वृत्ति से सेवा करते थे। बदले में उन्हें नये उपज पर 'मन'-'दो मन' अनाज दिया जाता था। इसी पर पूरा परिवार साल भर जीवन यापन करता था। इस वृत्ति से पेट भरे या नहीं भरे, पौनिया इन्हें छोड़कर दूसरी जगह नहीं जा सकता था। भंगी तथा मरे पशु उठाने वाली जातियां तो अपने पेशों से कठोरता से जकड़ी हुई थीं। वे कोई दूसरा धंधा चुनने के लिए स्वतंत्र नहीं थीं। इनके धंधे से अस्पृश्यता भी जुड़ी थी जिसे बुद्ध से लेकर गांधी, लगभग ढाई हजार साल तक, मिटाने में असमर्थ रहे। इनके बंधनों को कोई भी पीर-फकीर या भगवान काट नहीं पाते थे। अतः उपर्युक्त साखी की दूसरी पंक्ति में 'की' शब्द का अर्थ 'क्या' अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। तब पंक्ति का अर्थ बनता है कि 'क्या ऐसे बंधनों से अपने-आप मुक्त हो सकेगा? और 'क्या कोई गुरु उन्हें मुक्त कराने में सफल हो सकेगा?' (यह बताना उचित होगा कि पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार में 'की' का प्रयोग 'क्या' के लिए होता है, जैसे—'की खैला या की पीला' (क्या खाये, क्या पिये)।)

सारांशतः कबीर ने अनुभव किया कि समाज के अधिकांश लोग इतने अधिक मजबूर हैं कि उन्हें कोई भगवान मुक्ति नहीं दिला सकता है। उन्हें अपने ही पुरुषार्थ पर भरोसा बनाना चाहिए, ईश्वर का रहस्य तो कोई नहीं समझ सका है—'आपन आश कीजै बहुतेरा, काहु न मर्म पावल हरि केरा' (बी.श.77)। सुख का

समय थोड़ा है और दुख तो जन्म से मृत्युपर्यंत पीछा नहीं छोड़ता है तथापि हमारा मन पागल हाथी के समान अल्पकालीन सुखों में भूला रहता है। यह भी तर्कपूर्ण है कि सुख से दूर भागकर मुक्ति संभव नहीं, परन्तु सुख के सच्चे और झूठे स्वरूपों को समझना होगा। मनुष्य सच्चा सुख छोड़कर झूठे सुख के लिए दौड़ता है (बी.र. 23) :

*अल्प सुख दुख आदिउ अन्ता। मन भुलान मैगर मैं मन्ता।।  
सुख बिसराय मुक्ति कहां पावै। परिहरि सांच झूठ निज धावै।।*

आज कबीर-बानी का (संगृहित होकर) विशाल खजाना उपलब्ध है। इन बानियों में एक विशेषता हमें मिलती है कि भाव नहीं बदलते भले बोली-भाषा बदल जाये। मगधी, भोजपुरी, अवधी, राजस्थानी, छत्तीसगढ़ी आदि लोक भाषाओं में कबीर बानी पर्याप्त मात्रा में हैं जिनके रचनाकार का पता नहीं पर कबीर के सिद्धान्त से ओत-प्रोत हैं। इनकी बानियों का जितना अध्ययन हम करते हैं उतने ही विविध रंग कबीर के व्यक्तित्व में मिलते हैं। आदि कवि, लोक कवि, क्रांतिकारी कवि, समाज सुधारक, आध्यात्मिक गुरु, उच्च कोटि के संत-विचारक आदि के बहुरंग से हम रूबरू होते हैं। लोक कल्याण के प्रति समर्पण का भाव सबसे अधिक आकर्षक रंग है। प्रस्तुत विवेचना का विषय है लोक जीवन के मूलभूत दुःखों से मुक्ति। परशुराम चतुर्वेदी (कबीर साहित्य की परख, प्रस्तावना, पृ.3) लिखते हैं कि "कबीर साहब ने अपनी पंक्तियों में जो तत्कालीन जन-जीवन का चित्र निर्मित किया है वह अत्यंत मार्मिक और सजीव है। उन्होंने किसानों, वयनजीवियों, बनजारों, भठियारों, महाजनों आदि की जीवन-पद्धति को जैसे बहुत ही निकट से देखा है और वे दरबारी, सिपाही, कोतवाल आदि के कार्यों से भी पूर्ण परिचित से जान पड़ते हैं। वे पंडितों, काजियों, पीरों, पुजारियों अथवा जोगियों तथा पाखंडियों की आलोचना करते समय प्रधानता उनकी मौलिक दुर्बलता को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं। इसी प्रकार, बनारसी ठगों को भी हमारे प्रत्यक्ष लाकर उन पर प्रहार करते दीख पड़ते हैं।"

—क्रमशः

## मीठा माने क्या? मुलायम माने क्या?

लेखक—श्री श्रीकृष्ण दत्त भट्ट

‘मीठा’ माने क्या?  
‘मीठा’ कहते हैं उसे जो अपने को अच्छा लगे,  
प्यारा लगे।

‘मीठा’ कहते हैं मिठाई को।

जलेबी और इमरती, रसगुल्ला और गुलाब-जामुन,  
चमचम और खीरमोहन, पेड़ा और बरफी, सोहन हलुआ  
और कलाकन्द...।

चीनी से, गुड़ से बने तरह-तरह के स्वादिष्ट व्यंजन  
‘मीठा’ कहलाते हैं। लेमनजूस हो, मिश्री की डली हो,  
या शकरकंद का टुकड़ा, सब मीठी चीजें मीठा कही  
जाती हैं।

बच्चे दौड़ते हैं मीठे के नाम से।

बड़ों और बुजुर्गों को भी मीठा अच्छा लगता है।

घर पर कोई आता है तो उसका स्वागत किया जाता  
है—मीठा से, गुड़ से, मिश्री से...।

‘मुन्ना मीठा दो, मिठिया दो, प्यार दो’, कहकर लोग  
छोटे बच्चों को चूमते हैं, प्यार करते हैं।

मतलब,

मीठा सबको अच्छा लगता है। सबको प्यारा लगता  
है।

और, वह आदमी, जो खुद ही मीठा हो?

जिसकी बोली मीठी, जिसका व्यवहार मीठा,  
जिसका चाल-चलन मीठा?

उसका तो कहना ही क्या?

उसके मुंह से मीठी ही बात निकलती है।

वह सबसे मीठा ही व्यवहार करता है।

भीतर भी, मन में भी वह सबसे मीठे की ही बात  
सोचता है। सबके प्यार की ही बात सोचता है।

धन्य है ऐसा आदमी!

× × ×

और ‘मुलायम’ माने क्या?

‘मुलायम’ कहते हैं कोमल को?

‘मुलायम’ कहते हैं नम्र को।

आदमी ऊपर से मीठा हो, मीठा बोलता हो, पर  
भीतर से कड़ा हो, घमण्डी हो, अपने बराबर किसी को  
न समझता हो, तो उसे मीठा नहीं कहा जा सकता।

उसका मीठापन बनावटी है। उसी तरह के लोगों के  
लिए तुलसी बाबा कहते हैं—

*बोलहिं मधुर वचन जिमि मोरा।*

*खाँहि महा अहि हृदय कठोरा॥*

मोर कैसा मीठा बोलता है, पर निगल जाता है सांप  
को!

रंग, रूप और बनावट उसकी कैसी बढ़िया, पर  
काम कैसा भयंकर!

*विष रस भरा कनक घट जैसे!*

घड़ा तो सोने का है, पर उसके भीतर भरा है जहर।  
ऐसा मीठापन मीठे के नाम को डुबाता है।

मीठा तो वह, जो ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, मीठा  
ही मीठा हो।

मीठा ऐसा, जैसी बरफी।

बरफी को कहीं से भी तोड़कर चखो, मीठी ही  
मिलेगी।

× × ×

फल तीन तरह के होते हैं।

बाहर से कड़े, भीतर से मीठे। जैसे, बादाम।

भीतर से कड़े, बाहर से मीठे। जैसे छुहारा।

बाहर से भी मीठे, भीतर से भी मीठे। जैसे अंगूर।

अंगूर का गुच्छा देखकर तबीयत बाग-बाग हो  
जाती है।

अंगूर में दोनों बातें हैं—मीठा भी, मुलायम भी।

तारीफ है उस आदमी की, जो अंगूर की तरह मीठा  
भी हो, मुलायम भी।

बाहर से मीठा हुआ और भीतर से कड़ा रहा, भीतर  
अहंकार भरा रहा, भीतर स्वार्थ और लोभ भरा रहा,  
दम्भ और पाखण्ड भरा रहा, तो लानत है ऊपर की  
मिठास को!

मिठास तो वह, जो बाहर भी हो, भीतर भी।  
 आदमी वह, जो ऊपर से भी मीठा हो, भीतर से भी मुलायम हो।  
 हर आदमी के साथ मीठा बोले। हर आदमी के साथ मीठा व्यवहार करे।  
 हर आदमी के लिए मीठी बात सोचे।  
 किसी का भी दुख, किसी का भी दर्द उससे बर्दाश्त न हो। किसी को भी संकट में देखकर वह सेवा के लिए दौड़ पड़े।  
 और आदमी ही क्यों, हर प्राणी के लिए, हर पशु-पक्षी के लिए, हर कीड़े-मकोड़े के लिए उसके दिल में दर्द हो, मुहब्बत हो, प्रेम हो।  
 ऐसा आदमी होता है, 'मीठा', ऐसा आदमी होता है 'मुलायम'।  
 आओ, हम बनें मीठे और मुलायम!

### डॉक्टर साहब, मेरा मांस हाजिर है!

घटना है त्रावणकोण के तोरूर गांव की।  
 एक साहूकार का हाथी पागल हो गया।  
 महावत उसे काबू में करने लगा तो उसने महावत को ही अपनी सूंड में लपेटकर दे पटका।  
 इतना ही नहीं, महावत नारायण की पीठ में उसने अपना दांत भी घुसा दिया।  
 लोग दौड़े! मुश्किल से उन्होंने महावत को छुड़ा पाया।  
 पर वह बेहोश था।  
 लोग उसे अस्पताल ले गये।  
 दांत घुसने से पीठ में गहरा घाव था।  
 खून के फौवारे छूट रहे थे।  
 × × ×  
 डॉक्टर बोला : "टांका लगाने से खून बन्द नहीं हो सकता। घाव भरने के लिए किसी जिन्दा आदमी का तीन पाव मांस चाहिए!"  
 रोगी के प्राण संकट में थे।  
 पर अपने शरीर का मांस कौन कटवाये?

हमदर्दी तो सभी दिखा रहे थे, पर मांस कटाने को नारायण नायर के हितू-मित्रों और परिचितों की कौन कहे, घरवाले तक तैयार न हुए!

"एक आदमी की जान जा रही है और कोई भी उसके लिए अपना मांस कटवाने को तैयार नहीं है," यह सुनकर एक सम्पन्न आदमी से न रहा गया। वह डॉक्टर के पास पहुंचा। बोला : "डॉक्टर साहब, मेरा मांस हाजिर है। लीजिये, बचाइये इस बेचारे के प्राण।"

डॉक्टर ने उसकी जांघ से तीन पाव मांस काटकर महावत का घाव भर दिया। महावत बच गया।

पानीवली गांव के निवासी मांसदाता कन्नड कृष्णनायर को अपने घाव भरने के लिए कुछ दिन अस्पताल में रहना पड़ा।

कौन न तारीफ करेगा उनकी मुलामियत को।

### वह साबुनवाला

"चलिए, मैं भी चलता हूं आपके साथ।"  
 ऐसा कहकर दिल्ली के सदर बाजार में एक आदमी हमारे साथ हो गया।  
 दुबला, पतला, हंसमुख जवान।  
 बात है सन् 1934 की।  
 उस साल 15 जनवरी को बिहार में बड़े जोर का भूकम्प आया था।  
 बिहार की केन्द्रीय सहायता समिति के अनुसार कम-से-कम 18,557 आदमी पृथ्वी के गर्भ में समा गये थे। हजारों आदमी बेघर-बार के हो गये थे। अनगिनत लोग दो-दो दानों के लिए दर-दर की ठोकें खा रहे थे। हजारों माताएं निपूती हो गयी थीं। हजारों सधवाएं विधवा बन चुकी थीं। हजारों बच्चे मां-बाप से बिछुड़ चुके थे। लोगों के पास न खाने को अन्न था, न पहनने को कपड़े।  
 गांठ में पैसे भी नहीं थे।  
 इन्हीं भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के लिए कुछ पैसे और कपड़े आदि इकट्ठे करने के लिए दिल्ली के गांधी आश्रम से एक दिन हम लोगों की कुछ टोलियां निकल पड़ी थीं।



मेरे साथ जो टोली थी, उसमें इंजीनियरिंग कॉलेज के कुछ लड़के थे।

× × ×

उस आदमी का हमारे साथ होना था कि हमारी पेटी में पैसे भी बढ़ने लगे और हमारे कंधों पर कपड़े भी।

वह निधड़क घुस जाता किसी भी घर में। कुछ लेकर ही बाहर आता।

एकाध आदमी के बदन पर ओढ़े अलवान तक उसने उतार लिये।

जिससे मिलता, ऐसी आत्मीयता से मिलता कि हम लोग दांतों तले उंगली दबाते।

कई घण्टे वह घूमा हमारे साथ।

जब लौटकर अपने मकान के पास आया तो उसने हमसे बिदा ली। परिचय पूछा तो बोला—“क्या करियेगा परिचय पूछकर। मैं तो बहुत ही साधारण आदमी हूँ। साबुन बनाकर उसी से अपना पेट पालता हूँ।”

चांदनी चौक लौटकर जब हमने तमाम पेटियां खोलीं, तो हमारी ही पेटी में सबसे ज्यादा रकम निकली—80 रुपये, कुछ पैसे। दूसरी पेटियों में किसी में 5 रुपये थे, तो किसी में 10 रुपये, ज्यादा-से-ज्यादा 20 रुपये। वह साबुनवाला साथ न होता तो शायद हम भी दस-पन्द्रह रुपये लेकर ही लौटते।

तो यह करामात थी उस साबुनवाले की।

उसकी मीठी बोली, उसका प्रेमभरा व्यवहार ऐसा था कि हर घर में उसे प्रवेश हासिल था।

सभी के साथ उसकी दोस्ती थी। बच्चे और बूढ़े, स्त्री और पुरुष, सबसे वह ऐसे बात करता, मानो वह उन्हीं के घर का आदमी हो।

सीधा-सादा भोला-भाला साधारण आदमी। पर दिल था उसका मीठा और मुलायम।

काश, हम उससे कुछ सीख सकें!

(सर्व सेवा संघ द्वारा प्रकाशित 'आओ हम बनें मीठा और मुलायम' से साभार)।

## वे जगाकर चल दिये

रचयिता—श्री रामधारी सिंह पटेल

गुरु जी अद्भुत खेल, हम सबको दिखाकर चल दिये।  
जो किया सत् प्रेम उसको, वे जगाकर चल दिये॥

करुणा के सागर थे गुरुजी, आप सब हैं जानते।  
दिल से लगन जिसकी थी उनसे, वे उन्हें पहचानते॥  
हृदय है उनका स्वच्छ, जो सत्संग का रस छानते।  
कोई नहीं है गैर सबको, आप सम हैं मानते॥  
यह खयाल गुरुदेव लाखों में, बिठाकर चल दिये॥

गुरुदेव जी की सीख जो, दिल में बिठाया है सुनो।  
त्यागा सभी भ्रमजाल और, खुद को जगाया है सुनो॥  
जिसको था दर-दर ढूँढ़ता, अपने में पाया है सुनो।  
मुद्दत की जो थी मैल दिल में, वह छुड़ाया है सुनो॥  
ऐसा रस गुरुदेव हम सबको, पिलाकर चल दिये॥

कृपादृष्टि हर एक पे थी, उनकी कहानी सुन लो यार।  
जो भी निकट आया कभी, उससे किये वे दिल से प्यार॥  
इसमें जरा नहीं फर्क पाओगे, कहूँ मैं बार-बार।  
संदेह यदि होवे जिसे, देखे हृदय दृष्टि उधार॥  
गुरु जी कितने दिल में अपना, घर बनाकर चल दिये॥

पूज्य गुरु अभिलाष साहब की, रही महिमा अपार।  
जिसकी हृदय दृष्टि उधरी, कर सका उनका दिदार॥  
क्या थे वे क्या कह गये, जो है किया इसपे विचार।  
रामधारी जीते जी, उसका हुआ है बेड़ा पार॥  
प्रेम का प्याला हर एक को, वे पिलाकर चल दिये॥

कबीर गर्व न कीजिये, और न हँसिये कोय।  
अजहूँ नाव समुद्र में, ना जाने का होय॥  
सब काहू का लीजिये, साँचा शब्द निहार।  
पक्षपात न कीजिये, कहें कबीर विचार॥  
आतम अनुभव जब भयो, तब नहीं हर्ष विषाद।  
चित्र दीप सम हैं रहे, तज कर वाद विवाद॥

# शंका समाधान

प्रश्न—अज्ञात, विजय विहार, दिल्ली

1. प्रश्न—जीव और ब्रह्म की एकता कैसे हो?

उत्तर—यदि जीव और ब्रह्म एक ही हैं तो दोनों की एकता करने की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि जो एक हैं उनकी एकता क्या। बस, समझ लेना है। यदि जीव और ब्रह्म अलग-अलग हैं तो उनकी एकता कैसे होगी। अलग की वस्तुओं को आपस में चाहे जितना मिलाओ अन्ततः वे अलग-अलग ही हो जायेंगी। जैसे मिट्टी और पानी दोनों को मिलाने पर मिट्टी पानी में घुल जायेगी और लगेगा कि दोनों एक में मिल गये, परंतु पानी शांत होने पर जब मिट्टी नीचे बैठ जायेगी तब मिट्टी और पानी अलग-अलग हो जायेंगे। साथ ही हवा और गरमी के प्रभाव से जब पानी भाप बनकर उड़ जायेगा तब मिट्टी अलग की अलग ही रह जायेगी। इसी प्रकार यदि जीव और ब्रह्म अलग-अलग हैं तो कोई उनको एक में कैसे मिला सकता है। मिलाने की कल्पना कर सकता है। फिर ब्रह्म है कहां जिसमें जीव को मिलाना है। जीव तो प्रत्यक्ष है, हर मनुष्य का अपना आपा, अपरोक्ष है। ब्रह्म तो कहीं दिखाई नहीं पड़ता। जो दिखाई ही नहीं पड़ता, दिखाई दे नहीं सकता, जो मन-बुद्धि-वाणी से परे अगम-अगोचर है उसमें जीव की एकता कैसे होगी!

कहा जाता है कि जैसे बंद समुद्र में मिलकर विराट हो जाती है, पूर्णत्व प्राप्त कर लेती है वैसे जीव ब्रह्म में मिलकर विराट हो जायेगा, पूर्णत्व प्राप्त कर लेगा। यह सिर्फ कथन मात्र है। बंद और समुद्र दोनों विकारी और परमाणुओं की राशि होने से बंद समुद्र में मिलकर एक रूप हो जाती है, परंतु जीव और ब्रह्म दोनों निर्विकार-अखण्ड होने से कौन किसमें मिलेगा। विकारी-विकारी की एकता तो संभव है परंतु एक निर्विकार-अखण्ड दूसरे निर्विकार-अखण्ड में कभी मिल नहीं सकता। जीव और ब्रह्म दोनों एक में तभी मिल सकते हैं जब दोनों विकारी हों किन्तु जो विकारी है वह एकरस,

अखण्ड और शाश्वत नहीं होगा। एक दिन दोनों का नाश हो जायेगा।

जीव यदि यह समझ ले कि जिस ब्रह्म को पाकर, जिसमें मिलकर मैं पूर्ण होना चाहता हूं, तृप्त-कृतार्थ होना चाहता हूं वह मुझसे पृथक नहीं है, किंतु मेरा अपना आपा है, वह मैं ही हूं, ऐसा समझकर अपने में स्थित हो जाये बस जीव-ब्रह्म की एकता हो गयी। एकता थी ही। अपने स्वरूप का ज्ञान न होने से ब्रह्म को अपने से अलग मानकर उसको पाने, उसमें मिलने के लिए जीव भटक रहा था। जब स्वरूप का ज्ञान हो गया और पता चल गया कि मैं ही ब्रह्म हूं, पूर्ण हूं, तब भटकना छुट गया, जीव अपने स्वरूप में स्थित हो गया, बस एकता हो गयी, जो कि पहले से थी ही। इसीलिए श्री निर्मल साहेब जी कहते हैं—जाने बिना दूर जाने को नजदीक। देखो निरंतर में अपरोक्ष तसदीक।

बृहत्वाद् ब्रह्म। जो बृहत्, बड़ा और महान है वही ब्रह्म है। सबका कल्पक, मन्ता, बोद्धा, ज्ञाता होने से जीव स्वयं ही बड़ा, महान और ब्रह्म है। ब्रह्म जीव से श्रेष्ठ और सर्वत्र परिपूर्ण, सर्वत्र व्याप्त है—यह कल्पना करने वाला भी जीव ही है।

अतः जीव-ब्रह्म की एकता नहीं करना है, किन्तु एकता है ही। जीव से अलग कोई और ब्रह्म नहीं है।

2. प्रश्न—यदि जीव-आत्मा से अलग ईश्वर नहीं है तो भक्ति किसकी करनी चाहिए? भक्ति का आधार क्या होना चाहिए?

उत्तर—पहले यह समझना होगा कि भक्ति क्या है। भक्ति शब्द 'भज्' धातु से बना है और कोशकारों ने इसके अनेक अर्थ बताये हैं, जिनमें सेवा, उपासना, स्मरण, चिंतन, चुनना, छांटना, पसंद करना, ग्रहण करना, वियोजन, पृथक करना आदि प्रमुख हैं।

पहले हम सेवा अर्थ को लें। सेवा जानदार प्राणियों की की जाती है। प्राणियों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है और मानवेतर प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य को सेवा की अधिक आवश्यकता होती है। मनुष्यों में माता-पिता, बूढ़े-बुजुर्ग एवं संत-गुरुजनों की सेवा कर्तव्य एवं श्रद्धा

भावना से की जानी चाहिए एवं दीन-दुखी, असहाय-लाचार, वृद्ध-रोगी की सेवा कर्तव्य एवं मानवता की भावना से की जानी चाहिए। मानवेतर प्राणियों की भी जितना संभव हो सेवा करना मनुष्य का कर्तव्य है। सेवा न कर सके तो जानबूझकर मनसा-वाचा-कर्मणा दुख देने से बचना चाहिए।

भक्ति का अर्थ उपासना मानें तो उपासना प्रत्यक्ष विराजमान विवेक-वैराग्य संपन्न संत-गुरु की ही हो सकती है। यदि ईश्वर मनुष्यों से अलग है तो उसकी उपासना हम कैसे करें, जिसे हमने देखा ही नहीं है। उसकी तो हम केवल भावना और कल्पना ही कर सकते हैं। कहा जाता है ईश्वर के नाम, रूप, लीला, धाम का वर्णन-चिंतन करना उसकी भक्ति करना है, तो नाम, रूप, लीला, धाम मनुष्य के होते हैं। ईश्वर तो नाम-रूप से परे अगम-अगोचर है फिर उसकी लीला कैसी और धाम कैसा! इसीलिए लोगों ने किसी एक शरीरधारी मनुष्य के जीवन में अलौकिकता का आरोपण कर उसको पहले ईश्वर बना दिया और फिर उसके नाम, रूप, लीला, धाम का अतिशयोक्तिपूर्वक वर्णन कर उसका कथा-कीर्तन करना ईश्वर की भक्ति मान लिया। तो यह एक मान्यता हुई न कि ईश्वर की भक्ति। हां, सामान्य लोगों के लिए यह मन को बहलाने का एक आधार जरूर हुआ, परंतु यह ईश्वर की भक्ति नहीं, अपितु अपने मन की मान्यता की भक्ति हुई।

मूर्ति-पूजा करना भी ईश्वर की भक्ति नहीं है, क्योंकि ईश्वर की मूर्ति तो बन नहीं सकती। मूर्ति बनती है किसी शरीरधारी की। यदि ईश्वर मनुष्य या प्राणियों से अलग है तो किसी शरीरधारी की मूर्ति की पूजा ईश्वर की भक्ति कैसे हो सकती है। मूर्ति तो मनुष्य अपने मन की मान्यता के अनुसार गढ़ता है। और फिर यदि मूर्ति-पूजा ईश्वर की भक्ति है तो जो लोग मूर्ति-पूजा नहीं करते उनके लिए फिर ईश्वर-भक्ति क्या होगी। जड़-मूर्ति की अपेक्षा तो जानदार प्राणी श्रेष्ठ हैं, फिर उनकी पूजा-सेवा-उपासना क्यों न किया जाये।

कहा जाता है कि ईश्वर का चिंतन-स्मरण करना उसकी भक्ति करना है तो चिंतन-स्मरण तो उसका होगा जिसे हमने देखा है। जिसे हमने देखा नहीं है, किन्तु

जिसके बारे में सुना या पढ़ा है उसकी कल्पना हो सकती है चिंतन-स्मरण नहीं। जब ईश्वर को देखा नहीं, देखा जा सकता नहीं, तब उसका चिंतन-स्मरण कोई कैसे करेगा। देखा तो जायेगा किसी प्राणी या पदार्थ को और प्राणी-पदार्थ ईश्वर है नहीं। फिर कोई ईश्वर का चिंतन-स्मरण कैसे करेगा।

ईश्वर को भक्ति का आधार मानें तो पहले यह निर्धारित करना होगा कि वह साकार है या निराकार। यदि साकार है तो वह जड़-पदार्थ होगा या प्राणी होगा। जड़-पदार्थ शरीर निर्वाह एवं सेवा का साधन तो है परंतु भक्ति का आधार नहीं हो सकता। कोई पदार्थ की भक्ति कैसे करेगा। प्राणी चेतन होने से उसकी भक्ति की जा सकती है, परंतु प्राणियों में मानवेतर प्राणी भी भक्ति का आधार नहीं हो सकते। भक्ति का आधार मानव ही हो सकता है और मानव प्रत्यक्ष है फिर उससे अलग ईश्वर की कल्पना करने की आवश्यकता क्यों! हां, मनुष्यों में माता-पिता, विद्वान, बड़े-बुजुर्ग तथा निर्मल जीवन विवेक-वैराग्य संपन्न संत-गुरु ही भक्ति के सच्चे आधार हैं।

यदि ईश्वर निराकार है तो निराकार की कोई भक्ति कैसे करेगा, उसकी तो आकाश-पाताल या शून्य के रूप में केवल कल्पना ही की जा सकती है। केन उपनिषद् के ऋषि कहते हैं—

*न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्यो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचक्षिरे।*

अर्थात् न वहां आंखें पहुंचती हैं न वाणी पहुंचती है, न मन पहुंचता है और न हम उसे जानते हैं। हम नहीं समझ पाते कि शिष्यों को उसका उपदेश कैसे करें। वह विदित और अविदित दोनों से परे है। हमारे पूर्वजों ने व्याख्या करके समझाया है। हम उनसे इसी तरह सुनते आये हैं। जब वह ऐसा है तब उसकी कोई भक्ति कैसे करेगा।

यह निश्चित है कि सामान्य मनुष्यों का मन निराधार ठहर नहीं सकता। उसको एक आधार, एक अवलंबन की आवश्यकता है और इसीलिए अधिकतम धार्मिक मतों में ईश्वर की कल्पना कर और उसके नाना रूप

गढ़कर उसको भक्ति का आधार बनाया गया। निश्चित ही इससे सामान्य मनुष्यों को अपनी श्रद्धा-भक्ति समर्पित करने का, मन को ठहराने का एक सुंदर आधार मिला, और ईश्वर की भक्ति-उपासना कर अनेक संत-भक्त बहुत ही पवित्रतापूर्वक जीवन व्यतीत किये और कर रहे हैं। अनेक ईश्वर-भक्तों की जो दीवानगी एवं मस्ती है वह भी बहुत प्रशंसनीय है। परन्तु ईश्वर को भक्ति का आधार मान लेने पर भक्ति के नाम पर भटकाव भी शुरू हुआ और ईश्वर को रिझाने-खुश करने के लिए वह सब कुछ किया जाने लगा जो एक मनुष्य को रिझाने-खुश करने के लिए किया जाता है। भक्ति का मूल उद्देश्य समर्पण, आत्मकल्याण तो छुट गया, ईश्वर को निर्यत्न भोग-मोक्ष पाने तथा सारे पाप कर्मों के फल-भोग से छुटकारा पाने का माध्यम बना डाला गया। आज ईश्वर-भक्ति के नाम पर पूजा-पाठ, नाम-जप, कथा-कीर्तन, हवन-जागरण आदि जो कुछ चल रहे हैं सबका उद्देश्य या तो अपनी कोई लौकिक कामना की पूर्ति रह गयी है या सारा दुराचार-पाप करके उनके फलभोग से बचना रह गया है। काल्पनिक ईश्वर को भक्ति का आधार मानने पर यह सब होना ही है।

यदि ईश्वर को भक्ति का आधार न मानें तो फिर भक्ति का आधार क्या और कौन है? भक्ति की परिभाषा देते हुए कहा गया है—पूज्येष्वनुरागो भक्तिः अर्थात् पूज्य के प्रति अनुराग होना भक्ति है। अब प्रश्न है कि पूज्य कौन है? पूज्य दो हैं—माता-पिता या संत-गुरु। लौकिक दृष्टि से जन्मदाता माता-पिता, विद्या-शिक्षा दाता गुरु पूज्य हैं। आत्मकल्याण-पारमार्थिक उन्नति की दृष्टि से विवेक-वैराग्यवान् निर्मल जीवन संत-गुरु पूज्य हैं। माता-पिता एवं संत-गुरु की सेवा, आज्ञापालन एवं उपासना-भक्ति पूरी दुनिया में मान्य है और यही सच्ची सगुण भक्ति है। अतः सगुण-भक्ति का आधार माता-पिता एवं संत-गुरु हैं।

अब रही निर्गुण भक्ति का आधार तो उसके लिए स्वामी शंकराचार्य कहते हैं—स्व स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते। अर्थात् स्वस्वरूप का अनुसंधान, स्व तत्त्व, स्व-आत्म की पहचान और पहचान कर उसमें स्थिति सच्ची निर्गुण भक्ति है। ईश्वर पर कोई

विश्वास करे या न करे सबको अपने होने का विश्वास तो दृढ़तापूर्वक है। कौन कहेगा कि मैं नहीं हूँ। यदि कोई कहता है कि मैं नहीं हूँ तो यही सिद्ध कर रहा है कि मैं हूँ। है तभी तो कह रहा है कि मैं नहीं हूँ। मैं हूँ या मैं नहीं हूँ यह जो कहने वाला है, इसको जानने का प्रयास और जानकर उसमें विश्राम, लीनता, स्थिति अंतिमी भक्ति है।

स्व तत्त्व को न जानने के कारण ही मनुष्य भक्ति का आधार बाहर खोजता है। स्व तत्त्व का निर्भ्रान्त बोध हो जाने पर भक्ति का आधार बाहर खोजने या मानने की आवश्यकता नहीं रह जायेगी। सार निष्कर्ष यही है कि भक्ति का आधार या तो माता-पिता और संत-गुरु हैं या अपना स्व आत्म तत्त्व!

—धर्मेन्द्र दास

## कराऊँ चार चमत्कार

रचयिता—डॉ. राममिलन

हर इन्सान को ही, एक ख़ुदा या भगवान चाहिये, क्या नहीं अज़ीब फितरत है, यह हमारी, भले इन्सानियत मिट जाये इस ज़मीं पर मगर चाहिये, ख़ुदा, भगवान, अज़ीब आदत है हमारी दो गालियाँ इन्सान को सरे राह चाहे जितनी, मगर उसके ख़ुदा भगवान को कुछ भी न कहिये, अफ़सोस सबके रहनुमा का, यही संदेश जबकि, सब इन्सान ज़मीं पर, इन्सान बनकर ही रहिये आज फिर से लगी है होड़, ख़ुदा गढ़ने की, इन्सानियत मारकर, ख़ुद को ज़मीं पर बढ़ने की, ख़ुदा भगवान भी, सबके हैं, अपने अलग अलग, नहीं इन्सान को अब है, ज़रूरत इन्सान बने रहने की मुझे लगता है कि मैं भी, अपना एक भगवान गढ़ूँ लिखाकर ग्रन्थ उससे, रोज़ सुबह शाम पढ़ूँ कराऊँ चार चमत्कार, लम्बे चौड़े अज़ीब से उससे लगाकर भीड़ उसके नाम की, मैं भी ज़रा आगे बढ़ूँ मगर, अफ़सोस, मैं हरगिज़ न ऐसा कर सकता, हूँ मैं इन्सान बस इन्सान ही मैं रह सकता, सब इन्सान हो सके तो मुझे माफ़ करना, डरूँ मैं कर्म से अपने, ख़ुदा भगवान से न डर लगता

## मंदिर

लेखक—मुंशी श्री प्रेमचंद

मातृ-प्रेम, तुझे धन्य है! संसार में और जो कुछ है, मिथ्या है, निस्सार है। मातृ-प्रेम ही सत्य है, अक्षय है, अनश्वर है। तीन दिन से सुखिया के मुंह में न अन्न का एक दाना गया था, न पानी की एक बूंद। सामने पुआल पर माता का नन्हा-सा लाल पड़ा कराह रहा था। आज तीन दिन से उसने आंखें न खोली थीं। कभी उसे गोद में उठा लेती, कभी पुआल पर सुला देती। हंसते-खेलते बालक को अचानक क्या हो गया, यह कोई नहीं बताता। ऐसी दशा में माता को भूख और प्यास कहाँ? एक बार पानी का एक घूंट मुंह में लिया था; पर कंठ के नीचे न ले जा सकी। इस दुखिया की विपत्ति का वार-पार न था। साल भर के भीतर दो बालक गंगा जी की गोद में सौंप चुकी थी। पतिदेव पहिले ही सिधार चुके थे। अब उस अभागिनी के जीवन का आधार, अवलम्ब जो कुछ था, यही बालक था। हाय! क्या ईश्वर इसे भी उसकी गोद से छीन लेना चाहते हैं?—यह कल्पना करते ही माता की आंखों से झर-झर आंसू बहने लगते थे। इस बालक को वह क्षण भर के लिए भी अकेला न छोड़ती थी। उसे साथ लेकर घास छीलने जाती। घास बेचने बाजार जाती तो बालक गोद में होता। उसके लिए उसने नन्हीं-सी खुरपी और नन्हीं-सी खांची बनवा दी थी। जियावन माता के साथ घास छीलता और गर्व से कहता—अम्मां, हमें भी बड़ी-सी खुरपी बनवा दो, हम बहुत-सी घास छीलेंगे, तुम द्वारे माची पर बैठी रहना, अम्मां; मैं घास बेच लाऊंगा। मां पूछती—हमारे लिए क्या-क्या लाओगे, बेटा? जियावन लाल-लाल साड़ियों का वादा करता। अपने लिए बहुत-सा गुड़ लाना चाहता था। वे ही भोली-भोली बातें इस समय याद आ-आकर माता के हृदय को शूल के समान बेध रही थीं। जो बालक को देखता, यही कहता कि किसी की डीठ है; पर किसकी डीठ है? इस विधवा का भी संसार में कोई वैरी है? अगर उसका नाम मालूम हो जाता, तो सुखिया जाकर उसके चरणों पर गिर पड़ती और बालक को उसकी गोद में रख देती। क्या उसका हृदय दया से न

पिघल जाता? पर नाम कोई नहीं बताता। हाय! किससे पूछे, क्या करे?

2

तीन पहर रात बीत चुकी थी। सुखिया का चिंता-व्यथित चंचल मन कोठे-कोठे दौड़ रहा था। किस देवी की शरण जाये, किस देवता की मनौती करे, इसी सोच में पड़े-पड़े उसे एक झपकी आ गयी। क्या देखती है कि उसका स्वामी आकर बालक के सिरहाने खड़ा हो जाता है और बालक के सिर पर हाथ फेर कर कहता है—रो मत, सुखिया! तेरा बालक अच्छा हो जायगा। कल ठाकुर जी की पूजा कर दे, वही तेरे सहायक होंगे। यह कहकर वह चला गया। सुखिया की आंख खुल गयी। अवश्य ही उसके पतिदेव आये थे। इसमें सुखिया को ज़रा भी संदेह न हुआ। उन्हें अब भी मेरी सुधि है, यह सोचकर उसका हृदय आशा से परिप्लावित हो उठा। पति के प्रति श्रद्धा और प्रेम से उसकी आंखें सजल हो गयीं। उसने बालक को गोद में उठा लिया और आकाश की ओर ताकती हुई बोली—भगवान! मेरा बालक अच्छा हो जाये, तो मैं तुम्हारी पूजा करूंगी। अनाथ विधवा पर दया करो।

उसी समय जियावन की आंखें खुल गयीं। उसने पानी मांगा। माता ने दौड़ कर कटोरे में पानी लिया और बच्चे को पिला दिया।

जियावन ने पानी पी कर कहा—अम्मां, रात है कि दिन?

सुखिया—अभी तो रात है बेटा, तुम्हारा जी कैसा है?

जियावन—अच्छा है अम्मां! अब मैं अच्छा हो गया।

सुखिया—तुम्हारे मुंह में घी-शक्कर, बेटा, भगवान् करे तुम जल्द अच्छे हो जाओ! कुछ खाने को जी चाहता है?

जियावन—हां अम्मां, थोड़ा-सा गुड़ दे दो।

सुखिया—गुड़ मत खाओ भैया, अवगुन करेगा।  
कहो तो खिचड़ी बना दूं।

जियावन—नहीं मेरी अम्मां, जरा-सा गुड़ दे दो,  
तेरे पैरों पड़ू।

माता इस आग्रह को न टाल सकी। उसने थोड़ा-सा  
गुड़ निकाल कर जियावन के हाथ में रख दिया और  
हांड़ी का ढक्कन लगाने जा रही थी कि किसी ने बाहर  
से आवाज़ दी। हांड़ी वहीं छोड़ कर वह किवाड़ खोलने  
चली गयी। जियावन ने गुड़ की दो पिंडियां निकाल लीं  
और जल्दी-जल्दी चट कर गया।

3

दिन भर जियावन की तबीयत अच्छी रही। उसने  
थोड़ी-सी खिचड़ी खायी, दो-एक बार धीरे-धीरे द्वार पर  
भी आया और हमजोलियों के साथ खेल न सकने पर  
भी उन्हें खेलते देखकर उसका जी बहल गया। सुखिया  
ने समझा, बच्चा अच्छा हो गया। दो-एक दिन में जब  
पैसे हाथ में आ जायेंगे, तो वह एक दिन ठाकुर जी की  
पूजा करने चली जायगी। जाड़े के दिन झाड़ू-बहारू,  
नहाने-धोने और खाने-पीने में कट गये मगर जब संध्या  
समय फिर जियावन का जी भारी हो गया, तब सुखिया  
घबरा उठी। तुरंत मन में शंका उत्पन्न हुई कि पूजा में  
विलम्ब करने से ही बालक फिर मुरझा गया है। अभी  
थोड़ा-सा दिन बाकी था। बच्चे को लेटा कर वह पूजा  
का सामान तैयार करने लगी। फूल तो ज़मींदार के  
बगीचे में मिल गये। तुलसीदल द्वार ही पर था; पर  
ठाकुर जी के भोग के लिए कुछ मिष्ठान्न तो चाहिए; नहीं  
तो गांव वालों को बांटेगी क्या! चढ़ाने के लिए कम-  
से-कम एक आना तो चाहिए। सारा गांव छान आयी,  
कहीं पैसे उधार न मिले। अब वह हताश हो गयी। हाय  
रे अदिन! कोई चार आने पैसे भी नहीं देता। आखिर  
उसने अपने हाथों के चांदी के कड़े उतारे और दौड़ी हुई  
बनिये की दूकान पर गयी, कड़े गिरों रखे, बतासे लिये  
और दौड़ी हुई घर आयी। पूजा का सामान तैयार हो  
गया, तो उसने बालक को गोद में उठाया और दूसरे हाथ  
में पूजा की थाली लिये मंदिर की ओर चली।

मन्दिर में आरती का घंटा बज रहा था। दस-पांच  
भक्तजन खड़े स्तुति कर रहे थे। इतने में सुखिया जाकर  
मन्दिर के सामने खड़ी हो गयी।

पुजारी ने पूछा—क्या है रे? क्या करने आयी है?

सुखिया चबूतरे पर आकर बोली—ठाकुर जी की  
मनौती की थी महाराज, पूजा करने आयी हूं।

पुजारी जी दिन भर ज़मींदार के असामियों की पूजा  
किया करते थे और शाम-सबेरे ठाकुर जी की। रात को  
मन्दिर ही में सोते थे, मन्दिर ही में आपका भोजन भी  
बनता था, जिससे ठाकुरद्वारे की सारी अस्तरकारी काली  
पड़ गयी थी। स्वभाव के बड़े दयालु थे, निष्ठावान ऐसे  
कि चाहे कितनी ही ठंड पड़े, कितनी ही ठंडी हवा चले,  
बिना स्नान किये मुंह में पानी तक न डालते थे। अगर  
इस पर भी उनके हाथों और पैरों में मैल की मोटी तह  
जमी हुई थी, तो इसमें उनका कोई दोष न था! बोले—  
तो क्या भीतर चली आयेगी। हो तो चुकी पूजा। यहां  
आकर भरभष्ट करेगी।

एक भक्तजन ने कहा—ठाकुर जी को पवित्र करने  
आयी है?

सुखिया ने बड़ी दीनता से कहा—ठाकुर जी के  
चरन छूने आयी हूं, सरकार! पूजा की सब सामग्री लायी  
हूं।

पुजारी—कैसी बेसमझी की बात करती है रे, कुछ  
पगली तो नहीं हो गयी है। भला, तू ठाकुर जी को कैसे  
छुएगी?

सुखिया को अब तक कभी ठाकुरद्वारे में आने का  
अवसर न मिला था। आश्चर्य से बोली—सरकार, वह  
तो संसार के मालिक हैं। उनके दरसन से तो पापी भी  
तर जाता है, मेरे छूने से उन्हें कैसे छूत लग जायगी?

पुजारी—अरे, तू चमारिन है कि नहीं रे?

सुखिया—तो क्या भगवान ने चमारों को नहीं  
सिरजा है? चमारों का भगवान कोई और है? इस बच्चे  
की मनौती है, सरकार!

इस पर वही भक्त महोदय, जो अब स्तुति समाप्त  
कर चुके थे, डपटकर बोले—मार के भगा दो चुड़ैल  
को। भरभष्ट करने आयी है, फेंक दो थाली-वाली।  
संसार में तो आप ही आग लगी हुई है, चमार भी ठाकुर

जी की पूजा करने लगे, तो पिरथी रहेगी कि रसातल को चली जायगी?

दूसरे भक्त महाशय बोले—अब बेचारे ठाकुर जी को भी चमारों के हाथ का भोजन करना पड़ेगा। अब परलय होने में कुछ कसर नहीं है।

टंड पड़ रही थी; सुखिया खड़ी कांप रही थी और यहां धर्म के ठेकेदार लोग समय की गति पर आलोचनाएं कर रहे थे। बच्चा मारे टंड के उसकी छाती में घुसा जाता था; किन्तु सुखिया वहां से हटने का नाम न लेती थी। ऐसा मालूम होता था कि उसके दोनों पांव भूमि में गड़ गये हैं। रह-रहकर उसके हृदय में ऐसा उद्गार उठता था कि जाकर ठाकुर जी के चरणों पर गिर पड़े। ठाकुर जी क्या इन्हीं के हैं, हम गरीबों का उनसे कोई नाता नहीं है, ये लोग होते हैं कौन रोकनेवाले; पर यह भय होता था कि इन लोगों ने कहीं सचमुच थाली-वाली फेंक दी तो क्या करूंगी? दिल में ऐंठ कर रह जाती थी। सहसा उसे एक बात सूझी। वह वहां से कुछ दूर जा कर एक वृक्ष के नीचे अंधेरे में छिप कर इन भक्तजनों के जाने की राह देखने लगी।

4

आरती और स्तुति के पश्चात भक्तजन बड़ी देर तक श्रीमद्भागवत का पाठ करते रहे। उधर पुजारी जी ने चूल्हा जलाया और खाना पकाने लगे। चूल्हे के सामने बैठे हुए 'हूँ-हूँ' करते जाते थे और बीच-बीच में टिप्पणियां भी करते जाते थे। दस बजे रात तक कथा वार्ता होती रही और सुखिया वृक्ष के नीचे ध्यानावस्था में खड़ी रही।

सारे भक्त लोगों ने एक-एक करके घर की राह ली। पुजारी जी अकेले रह गये। अब सुखिया आकर मन्दिर के बरामदे के सामने खड़ी हो गयी; जहां पुजारी जी आसन जमाये बटलोई का क्षुधावर्द्धक मधुर संगीत सुनने में मग्न थे। पुजारी जी ने आहट पाकर गरदन उठायी, तो सुखिया को खड़ी देखा। चिढ़ कर बोले—क्यों रे, तू अभी तक खड़ी है!

सुखिया ने थाली जमीन पर रख दी और एक हाथ फैला कर भिक्षा-प्रार्थना करती हुई बोली—महाराज जी, मैं अभागिनी हूँ। यही बालक मेरे जीवन का अलम है,

मुझ पर दया करो। तीन दिन से इसने सिर नहीं उठाया। तुम्हें बड़ा जस होगा, महाराज जी!

यह कहते-कहते सुखिया रोने लगी। पुजारी जी दयालु तो थे, पर चमारिन को ठाकुर जी के समीप जाने देने का अश्रुतपूर्व घोर पातक वह कैसे कर सकते थे? न जाने ठाकुर जी इसका क्या दंड दें। आखिर उनके भी बाल-बच्चे थे। कहीं ठाकुर जी कुपित हो कर गांव का सर्वनाश कर दें, तो? बोले—घर जाकर भगवान् का नाम ले, तेरा बालक अच्छा हो जायगा। मैं यह तुलसीदल देता हूँ, बच्चे को खिला दे, चरणामृत उसकी आंखों में लगा दे। भगवान् चाहेंगे तो सब अच्छा ही होगा।

सुखिया—ठाकुर जी के चरणों पर गिरने न दोगे महाराज जी? बड़ी दुखिया हूँ, उधार काढ़ कर पूजा की सामग्री जुटायी है। मैंने कल सपना देखा था, महाराज जी कि ठाकुर जी की पूजा कर, तेरा बालक अच्छा हो जायगा। तभी दौड़ी आयी हूँ। मेरे पास एक रुपया है। वह मुझसे ले लो; पर मुझे एक छन भर ठाकुर जी के चरणों पर गिर लेने दो।

इस प्रलोभन ने पंडित जी को एक क्षण के लिए विचलित कर दिया; किन्तु मूर्खता के कारण ईश्वर का भय उनके मन में कुछ-कुछ बाक्री था। संभाल कर बोले—अरी पगली, ठाकुर जी भक्तों के मन का भाव देखते हैं कि चरन पर गिरना देखते हैं। सुना नहीं है—'मन चंगा तो कठौती में गंगा।' मन में भक्ति न हो, तो लाख कोई भगवान् के चरणों पर गिरे, कुछ न होगा। मेरे पास एक जंतर है। दाम तो उसका बहुत है; पर तुझे एक ही रुपये में दे दूंगा। उसे बच्चे के गले में बांध देना; बस, कल बच्चा खेलने लगेगा।

सुखिया—ठाकुर जी की पूजा न करने दोगे?

पुजारी—तेरे लिए इतनी ही पूजा बहुत है। जो बात कभी नहीं हुई, वह आज मैं कर दूँ और गांव पर कोई आफत-विपत आ पड़े तो क्या हो, इसे भी तो सोचो! तू यह जंतर ले जा, भगवान् चाहेंगे तो रात ही भर में बच्चे का क्लेश कट जायगा। किसी की दीठ पड़ गयी है। है भी तो चोंचाल। मालूम होता है, छत्तरी बंस है।

सुखिया—जब से इसे ज्वर है, मेरे प्राण नहीं में समाये हुए हैं।

पुजारी—बड़ा होनहार बालक है। भगवान जिला दें तो तेरे सारे संकट हर लेगा। यहां तो बहुत खेलने आया करता था। इधर दो तीन दिन से नहीं देखा था।

सुखिया—तो जंतर को कैसे बांधूंगी, महाराज?

पुजारी—मैं कपड़े में बांध कर देता हूं। बस, गले में पहना देना। अब तू इस बेला नवीन बस्तर कहां खोजने जायगी।

सुखिया ने दो रुपये पर कड़े गिरों रखे थे। एक पहले ही भंज चुका था। दूसरा पुजारी जी को भेंट किया और जंतर ले कर मन को समझाती हुई घर लौट आयी।

5

सुखिया ने घर पहुंच कर बालक के गले में जंतर बांध दिया; पर ज्यों-ज्यों रात गुजरती थी, उसका ज्वर भी बढ़ता जाता था, यहां तक कि तीन बजते-बजते उसके हाथ-पांव शीतल होने लगे। तब वह घबड़ा उठी और सोचने लगी—हाय! मैं व्यर्थ ही संकोच में पड़ी रही और बिना ठाकुर जी के दर्शन किये चली आयी। अगर मैं अन्दर चली जाती और भगवान के चरणों पर गिर पड़ती तो कोई मेरा क्या कर लेता? यही न होता कि लोग मुझे धक्के देकर निकाल देते, शायद मारते भी, पर मेरा मनोरथ तो पूरा हो जाता। यदि मैं ठाकुर जी के चरणों को अपने आंसुओं से भिगो देती और बच्चे को उनके चरणों में सुला देती, तो क्या उन्हें दया न आती? वह तो दयामय भगवान हैं, दीनों की रक्षा करते हैं, क्या मुझ पर दया न करते? यह सोच कर सुखिया का मन अधीर हो उठा। नहीं, अब विलम्ब करने का समय न था। वह अवश्य जायगी और ठाकुर जी के चरणों पर गिर कर रोयेगी। उस अबला के आशंकित हृदय को अब इसके सिवा और कोई अवलम्ब, कोई आसरा न था। मंदिर के द्वार बंद होंगे, तो वह ताले तोड़ डालेगी। ठाकुर जी क्या किसी के हाथों बिक गये हैं कि कोई उन्हें बंद कर रखे।

रात के तीन बज गये थे। सुखिया ने बालक को कम्बल से ढांप कर गोद में उठाया, एक हाथ में थाली उठायी और मंदिर की ओर चली। घर से बाहर निकलते ही शीतल वायु के झोंकों से उसका कलेजा कांपने

लगा। शीत से पांव शिथिल हुए जाते थे। उस पर चारों ओर अंधकार छाया हुआ था। रास्ता दो फरलांग से कम न था। पगडंडी वृक्षों के नीचे-नीचे गयी थी। कुछ दूर दाहिनी ओर एक पोखरा था, कुछ दूर बांस की कोठियां। पोखरे में एक धोबी मर गया था और बांस की कोठियों में चुड़ैलों का अड्डा था। बायीं ओर हरे-भरे खेत थे। चारों ओर सन-सन हो रहा था, अंधकार सांय-सांय कर रहा था। सहसा गीदड़ों ने कर्कश स्वर से हुआं-हुआं करना शुरू किया। हाय! अगर कोई उसे एक लाख रुपया देता, तो भी इस समय वह यहां न आती; पर बालक की ममता सारी शंकाओं को दबाये हुए थी। 'हे भगवान! अब तुम्हारा ही आसरा है!' यह जपती वह मंदिर की ओर चली जा रही थी।

मंदिर के द्वार पर पहुंच कर सुखिया ने जंजीर टटोल कर देखी। ताला पड़ा हुआ था। पुजारी जी बरामदे से मिली हुई कोठरी में किवाड़ बंद किये सो रहे थे। चारों ओर अंधेरा छाया हुआ था। सुखिया चबूतरे के नीचे से एक ईंट उठा लायी और ज़ोर-ज़ोर से ताले पर पटकने लगी। उसके हाथों में न जाने इतनी शक्ति कहां से आ गयी थी। दो ही तीन चोटों में ताला और ईंट दोनों टूट कर चौखट पर गिर पड़े। सुखिया ने द्वार खोल दिया और अंदर जाना ही चाहती थी कि पुजारी किवाड़ खोलकर हड़बड़ाये हुए बाहर निकल आये और 'चोर, चोर!' का गुल मचाते गांव की ओर दौड़े। जाड़ों में प्रायः पहर रात रहे ही लोगों की नींद खुल जाती है। यह शोर सुनते ही कई आदमी इधर-उधर से लालटेन लिये हुए निकल पड़े और पूछने लगे—कहां है? कहां है? किधर गया?

पुजारी—मंदिर का द्वार खुला पड़ा है। मैंने खट-खट की आवाज़ सुनी।

सहसा सुखिया बरामदे से निकल कर चबूतरे पर आयी और बोली—चोर नहीं है, मैं हूं; ठाकुर जी की पूजा करने आयी थी। अभी तो अंदर गयी भी नहीं, मार हल्ला मचा दिया।

पुजारी ने कहा—अब अनर्थ हो गया! सुखिया मंदिर में जा कर ठाकुर जी को भ्रष्ट कर आयी!



फिर क्या था, कई आदमी झल्लाये हुए लपके और सुखिया पर लातों और घूंसों की मार पड़ने लगी। सुखिया एक हाथ से बच्चे को पकड़े हुए थी और दूसरे हाथ से उसकी रक्षा कर रही थी। एकाएक बलिष्ठ ठाकुर ने उसे इतनी ज़ोर से धक्का दिया कि बालक उसके हाथ से छूट कर ज़मीन पर गिर पड़ा; मगर वह न रोया, न बोला, न सांस ली, सुखिया भी गिर पड़ी थी। संभल कर बच्चे को उठाने लगी, तो उसके मुख पर नज़र पड़ी। ऐसा जान पड़ा मानो पानी में परछाई हो। उसके मुंह से एक चीख निकल गयी। बच्चे का माथा छू कर देखा। सारी देह ठंडी हो गयी थी। एक लम्बी सांस खींच कर वह उठ खड़ी हुई। उसकी आंखों में आंसू न आये। उसका मुख क्रोध की ज्वाला से तमतमा उठा, आंखों से अंगारे बरसने लगे। दोनों मुठियां बंध गयीं। दांत पीसकर बोली—पापियो, मेरे बच्चे के प्राण ले कर दूर क्यों खड़े हो? मुझे भी क्यों नहीं उसी के साथ मार डालते? मेरे छू लेने से ठाकुर जी को छूत लग गयी? पारस को छूकर लोहा सोना हो जाता है, पारस लोहा नहीं हो सकता। मेरे छूने से ठाकुर जी अपवित्र हो जायेंगे! मुझे बनाया, तो छूत नहीं लगी? लो, अब कभी ठाकुर जी को छूने नहीं आऊंगी। ताले में बंद रखो, पहरा बैठा दो। हाय, तुम्हें दया छू भी नहीं गयी! तुम इतने कठोर हो! बाल-बच्चे-वाले होकर भी तुम्हें एक अभागिन माता पर दया न आयी! तिसपर धरम के ठेकेदार बनते हो! तुम सब के सब हत्यारे हो, निपट हत्यारे हो। डरो मत, मैं थाना-पुलिस नहीं जाऊंगी। मेरा न्याय भगवान करेंगे, अब उन्हीं के दरबार में फरियाद करूंगी।

किसी ने चूं न की, कोई मिनमिनाया तक नहीं। पाषाण-मूर्तियों की भांति सब सिर झुकाये खड़े रहे।

इतनी देर में सारा गांव जमा हो गया था। सुखिया ने एक बार फिर बालक के मुंह की ओर देखा, मुंह से निकला—हाय मेरे लाल! फिर वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। प्राण निकल गये। बच्चे के लिए प्राण दे दिये।

माता, तू धन्य है। तुझ-जैसी निष्ठा, तुझ-जैसी श्रद्धा, तुझ जैसा विश्वास देवताओं को भी दुर्लभ है!

## चल उड़ चल पंछी

रचयिता—डॉ. अमृत सिंह

चल उड़ चल पंछी दूर गगन,  
भर गया इस दुनिया से मन॥

जिस डालपर तेरा बसेरा है,  
जहाँ होता रोज सबेरा है।  
हुआ पुराना तेरा ठिकाना,  
तेरी डाल के दिन गये छिन॥

भूलो मत ये देश बिराना,  
यहां न किसी का सदा ठिकाना।  
आते जितने जीव जगत में,  
रहते केवल गिनती के दिन॥

ओ परदेशी पंछी तेरा,  
खत्म हुआ अब जीवन फेरा।  
मोह न कर तू यहाँ किसी का,  
जाती बिरिया छूटे प्रियजन॥

झूठा है जग, झूठी माया,  
माया ने सबको भरमाया।  
मायावी इस जग में बंदे,  
कब तक तू भटकायेगा मन॥

आया था तू दो दिन रहने,  
भूला देख सुनहरे सपने।  
क्षणभंगुर सपनों की दुनिया,  
क्षण में जाते टूट सपन॥

तू न किसी का, न कोई तेरा,  
कहते कहते तेरा मेरा।  
टूट सका न भ्रम का घेरा,  
बीते अबतक युग अनगिन॥

ये दुनिया आनी जानी है,  
ज्यों बहता दरिया पानी है।  
सदा रहा है, सदा रहेगा,  
इस दुनिया का यही चलन॥

भले बना ले महल अटारी,  
भले जीत ले दुनिया सारी।  
एक दिन तुझको जाना होगा,  
इस जग से प्यारे ओढ़ कफ़न॥

## परमार्थ पथ

### सद्गुरु ज्ञान ठिकाना है

शरीर छूटते समय शरीर तथा शरीर संबंधी समस्त मार्मिक उपलब्धियां झूठी लगेंगी, परंतु तब साधना करने का अवसर नहीं रहेगा। आज साधना करने का अवसर है, किंतु आज शरीर तथा उससे संबंधित सारी उपलब्धियां सच लगती हैं और इसी छलावा में इन झूठी उपलब्धियों का अहंकार मन में भरकर मनुष्य विकृष्ट बना भटकता है। उत्तम मुमुक्षु वह है जो हर क्षण शरीर और उससे संबंधित समस्त दृश्यों को झूठा समझता है। यहां झूठ का अर्थ है छूटने और विनशने वाला। जड़-दृश्य में शरीर प्रथम स्थान रखता है, जो पानी का बुलबुला है, उसके बाद पूरा संसार। यह सब कुछ न मैं हूँ और न मेरा है। मैं तो असंग चेतन हूँ।

\* \* \*

सारा संबंध ही नकली है, क्षणिक है। सारी उपलब्धियों एवं संबंधों को मन से हटा देने पर मैं केवल हूँ। यही परम सुख का स्थान है। सब क्षण-क्षण भागा जा रहा है। भागने वाले दृश्य में मन क्यों लगाना? स्थिर आत्मा में ही रमना निर्भय-सुख साधन है। तुम्हारे अपने माने गये शरीर के नाम, रूप, गुण, कर्म, स्वभाव आदि की प्रशंसा और निंदा का कोई मूल्य नहीं है। मूल्य है तुम्हारी निर्विकल्प समाधि का, निर्मल मन का, मोह-शोक तज कर वृत्ति का, राग-द्वेष-रहित पवित्र बरताव का और मुक्तजीवन का। तुम अपने को पा गये, तब क्या पाना रहा? अपने से मिल गये, तब किससे मिलना रहा? शोक से पार हो गये, तब क्या काम शेष रहा? जिसका मन जड़-दृश्य से ऊपर उठ गया, वह कृतार्थ हो गया। तुम्हारा यहां क्या है? जो लोग शरीर छोड़ चुके हैं, उनका यहां क्या रहा है? तुम्हारा माल-टाल, धन और परम ऐश्वर्य तुम्हारा अपना आत्म-अस्तित्व है। उसमें ही प्रतिष्ठित रहो।

\* \* \*

प्रकृति और पुरुष—जड़ और चेतन सर्वथा भिन्न हैं। प्रकृति जड़ विकारी और कारण-कार्य रूप परिवर्तनशील है। पुरुष चेतन, निर्विकार और नाना हैं। जड़-प्रकृति के संबंध में चेतन-पुरुष को दुख मिलता है। जब वह अपने को प्रकृति से सर्वथा भिन्न-निर्मल एवं पूर्णकाम निर्विकार चेतन समझकर प्रकृति का मोह छोड़ देता है, तब दुखों से छूट जाता है। संबंध दुख पैदा करता है, असंबंध दुखहीन दशा है। देह छूट जाने पर चेतन पुरुष असंबंध हो जाता है, परंतु यदि जड़-वासना है तो पुनः देह का संबंध होता है। विकारी जड़-प्रकृति से सदा के लिए मुक्त होने के लिए जड़-वासना सर्वथा छोड़ देना चाहिए। जड़-वासना धोखा है।

\* \* \*

चेतन शुद्ध है, चित्त से सर्वथा पृथक है। चेतन द्रष्टा है, चित्त दृश्य है। चेतन जब चित्त में तदाकार होता है तब दुख पैदा होता है और जब चेतन चित्त से सर्वथा पृथक होकर अपने आप शेष रहता है तब सर्वथा दुखहीन होता है। चेतन को यह ज्ञान होना चाहिए कि मैं चित्त से सर्वथा पृथक हूँ, और इसके साथ इस तथ्य का दृढ़ चिंतन होना चाहिए और अंततः चित्त से अलग होकर असंग स्थिति में ठहरना चाहिए। जब निरंतर अभ्यास से चित्त से अपने को अलग अनुभव किया जाने लगता है, तब भवबंधन क्षीण हो जाता है। मैं चेतन हूँ, चित्तहीन हूँ, असंग हूँ और दुखहीन हूँ।

\* \* \*

प्राणियों पर अधिकार, पद पर अधिकार, ऐश्वर्य पर अधिकार, जवानी और शरीर-बल पर अधिकार की लालसा भयंकर भ्रम है, क्योंकि इन पर अधिकार नहीं हो सकता। यह सब चंचल है। इन पर जिसने अधिकार का अहंकार किया वह सदैव जलता रहा। बड़े-बड़े राजे-महाराजे जो बहुत दिनों तक राज्य की गद्दियों पर विराजमान रहे, वे सब समय भयभीत और अशांत रहे और अंततः असंतोष में मर गये। इसी प्रकार बड़े-बड़े धर्माधिकारियों की भी दशा है। चित्त पर अधिकार करने वाला आनंद की गद्दी पर सदैव विराजमान रहता है।

उसकी गद्दी को कोई भय नहीं। वह आज निर्भय सुख में विचरता है और देहांत के बाद भी सुखी रहता है।

\* \* \*

तुम कैवल्य-धाम के राही हो, जहां पहुंचकर सारे दुखों और आपत्तियों का अंत है। यदि उस धाम के राही न बनोगे, तो भी यह देह छूटना है और उसके साथ सारा कबाड़खाना छूटना है जिसे तुम उपलब्धि मानते हो। याद रखो, तुम्हारी सारी मायिक उपलब्धि झूठी है। वह क्षण-क्षण छूटती है और देहांत में सब छूट जायगी। तुम्हारा दुखहीन, अक्षय, स्थिर, परमानंद भवन कैवल्य ही है। कैवल्य का अर्थ है अकेला रह जाना। चित्त जगत को तुम्हारे सामने करता है। चित्त-रहित हो जाओ, बस कैवल्य है।

\* \* \*

दूसरों के राग या द्वेष का स्मरण मन के भ्रम से होता है। जड़-दृश्य का रागात्मक स्मरण मन के भ्रम से होता है। शरीर और संसार का संबंध बहुत थोड़े दिनों का है, और इसका अ-संबंध एवं विलुप्तीकरण अनंतकाल के लिए है। इस तथ्य की याद करो और किसी भी जड़-दृश्य से अपना तादात्म्य मत करो। तुम सदैव अपने कैवल्य-भाव में रहो; क्योंकि तुम सदा केवल रहोगे जिसमें कोई पीड़ा-अभाव, असंतोष और अवसाद नहीं है। तुम क्षणिक देह के क्षणिक संबंध में मत रमो। इसके स्मरणों में मत डूबो, अपितु अपने केवल चेतन भाव में जीयो।

\* \* \*

पांच इंद्रियों से प्रतीतमान परदेश से अपने मन को सदैव उठाये रहो तभी अपने में अचल विश्राम पाओगे। यह जड़-दृश्य अचानक छूट जायेगा। इसलिए इसे पहले से छोड़े रहो। बाहर छोड़कर ही भीतर की प्राप्ति होती है। जो बाहरी वस्तुओं को पकड़ना चाहता है, वह अपने से छूट जाता है। मनुष्य भौतिक उपलब्धियों की चमक-दमक में अपने को खो देता है। उसने अपने को खो दिया और अंततः भौतिक उपलब्धियां भी छूट जाती हैं। इसलिए वह दोनों तरफ से धोखा खाता है। जिसने बाह्य मोह पूर्ण छोड़ दिया, वह अपने में पूर्ण विश्राम पा

लिया और वह धन्य हो गया। वस्तुतः मेरा स्थिर निवास स्वस्वरूप चेतन में है, आत्मा में है, जो समस्त मायिक प्रपंच से परे शुद्ध, शांत और केवल है, असंग है।

\* \* \*

बुद्ध दुनिया में एक अद्भुत महापुरुष हो गये हैं, जिन्होंने शुद्ध मानवता और दुखों से मुक्ति का रास्ता दिखाया जो निर्वाण पथ है। जो बन सके दूसरों की सेवा करे और सबसे मन फेर कर अपने आप का सुधार करे। जीव का संबंध किसी से नहीं है। अतएव अपनी असंगता का हर क्षण ध्यान रखकर अपने को सबसे निस्पृह रखे। मनुष्यों का संबंध जितना बन सके कम रखे। राग-द्वेष-रहित स्थिर शांति के लिए संबंध घटाने की बड़ी आवश्यकता है। जीवन्मुक्ति-पद में स्थिति के लिए असंगता चाहिए। अंततः क्या साथ रहेगा?

\* \* \*

सोचो, आज से सौ वर्ष बाद तुम्हारा इस संसार में क्या रहेगा? तुम्हारा अपना माना हुआ सब कुछ केवल माटी है। तुम्हें किस बात को लेकर हर्ष है और किस बात को लेकर शोक है? हर्ष-शोक के सारे आधार मिथ्या हैं। तुम मिथ्या बातों को लेकर क्यों पीड़ित हो? समुद्र में जैसे निरंतर लहरें आती हैं, वैसे इस संसार में प्राणी-पदार्थों के द्वंद्व आते हैं। उनसे निस्पृह, उदासीन और तटस्थ रहना शांति का रास्ता है। इस जीवन में केवल मुक्ति में जीयो। इसके अलावा कोई लक्ष्य न रखो। अनादिकाल से तुम सब कुछ किये हो, जिसका फल दुख पाये हो। आज केवल मन मारकर रहने का काम करो।

\* \* \*

जीव इस संसार में शरीर धारण कर कुछ दिनों में विषय-सुख पाने की भ्रमपूर्ण लालसा में अपने चारों तरफ अपने को फंसने का जाल बना लेता है और उसी में उलझकर जीवन पर्यंत जलता है। सारे दुखों का मूल है सुख पाने की लालसा। जीवन-निर्वाह के लिए कुछ कर लेना और थोड़ी वस्तुओं में निर्वाह कर लेना समझदारी का काम है और फिर अपने मन के राग-बंधन को काटकर अपने आप में संतुष्ट होना जीवन का परम लक्ष्य है।

# हम सुख चाहते हैं

लेखक—गुरुरमन दास

यदि किसी से पूछें कि आप क्या चाहते हैं तो वह कहेगा कि मैं अच्छा मकान चाहता हूँ। अच्छा मकान क्यों चाहते हैं? तो उत्तर होगा सुख से रहने के लिए। किसी दूसरे से पूछें आप क्या चाहते हैं? वह कहेगा कि मैं ऊँचा पद चाहता हूँ। क्यों चाहते हैं? उत्तर होगा—सुख से रहने के लिए। आप दुनिया भर के मनुष्यों से पूछ डालें, वे जिस चीज की बात कहेंगे, उसके मूल में होगा सुख से रहना। और वह सुख हो कैसा? शाश्वत। क्षणिक सुख न हो जो अभी मिले और अगले क्षण छूट जाये। परन्तु विचार करें कि क्या दुनिया का कोई भी सुख ऐसा है जो मिलकर कभी न छूटे।

वस्तुतः प्राणी और पदार्थजनित सुख निर्भय और शाश्वत होता ही नहीं। धन से सुख मिलता भी नहीं, बल्कि सुविधा मिलती है। सद्गुरु श्री अभिलाष साहेब ने कहा है—

*धन तो केवल तन गुजर के वास्ते है।  
पर विचारो शांति के क्या रास्ते हैं।।*

पद-प्रतिष्ठा से भी शाश्वत सुख नहीं मिलता है। आखिर सुख कैसे मिलेगा? जब व्यक्ति का मन निश्चल और निर्मल होता है तो वह सुख की स्थिति में होता है। इतिहास कहता है कल सुख था और विज्ञान कहता है कल सुख होगा। लेकिन धर्म कहता है अगर मन साफ-पाक है और दिल सच्चा है तो हर वक्त सुख है।

संसार की कोई भी वस्तु जैसे ही हमें मिलती है, वैसे ही उसके छूटने, बिगड़ने और खोने की चिन्ता सवार हो जाती है। उससे निश्चिंतता और निर्भयताजनित सुख नहीं मिलता। वस्तु प्राप्ति की प्रसन्नता और सुख अपने साथ दुख को लेकर आते हैं। कहा जाता है—गुरु और शिष्य दोनों भ्रमण कर रहे थे। भूख लगी तो शिष्य भिक्षा लेने गांव में गया। किसी ने भिक्षा के साथ-साथ दक्षिणा में एक अशर्फी भी दे दी। गुरु-शिष्य दोनों ने

भोजन किया। गुरु ने कहा—थोड़ी देर आराम करके चलेंगे। शिष्य बोला, गुरुजी! आराम करने में देर हो जायेगी। रात भी हो जायेगी। मुझे बड़ा भय लग रहा है कहीं कोई मिल न जाये। दोनों चल दिये। शिष्य बोला, गुरुजी! जल्दी-जल्दी चलिए, मुझे भय लग रहा है। गुरु ने सोचा, यह इतना भयभीत क्यों हो रहा है, पहले तो ऐसा नहीं कहता था। गुरु ने कहा, बेटा, सामने झोपड़ी से रस्सी मांग लाओ, कुएं से पानी निकालकर पी लें तब चलें। चेला रस्सी लेने गया। इधर गुरु ने चेलाराम के झोले में देखा तो उसमें एक अशर्फी रखी है। गुरु जी समझ गये यही भय का कारण है। उन्होंने अशर्फी कुएं में डाल दी। जब दोनों पानी पी चुके तो शिष्य फिर बोला, गुरुजी! जल्दी चलिए, मुझे बड़ा भय लग रहा है। गुरु बोले—बेटा! मैंने भय को कुएं में डाल दिया है, तू क्यों परेशान हो रहा है। शिष्य ने झोला देखा तो उसमें से अशर्फी गायब। शिष्य बोला, गुरुजी! रात विश्राम यहीं कर लिया जाये अब कोई जल्दी नहीं, कोई भय नहीं।

वस्तु-मिलन का सुख हो या प्राणी-मिलन का, निर्भय सुख नहीं दे सकता। फिर प्रश्न होता है निर्भय और स्थायी सुख कैसे और कहां मिलेगा? इसे ही समझने की जरूरत है, जिसे हम आज तक समझ ही नहीं सके। जो वस्तु जहां मिलती है, वहीं जाने पर मिलेगी, दूसरी जगह नहीं। जैसे पेट्रोल की टंकी पर हम कपड़ा लेने जायें तो कपड़ा वहां कहां मिलेगा। कपड़े की दुकान पर मिठाई लेने जायें तो वहां नहीं मिलेगी। कपड़े की दुकान पर कपड़ा और मिठाई की दुकान पर मिठाई मिल जायेगी। इसका मतलब यदि हम सुख की दुकान पर सुख लेने जायें तो सुख मिल जायेगा। लेकिन सुख की दुकान है कहां? सुख की दुकान ही नहीं होती। क्योंकि सुख दुकानों पर बिकता ही नहीं। बड़ा आश्चर्य है कि सब लगे हुए हैं सुख की खोज में ही। लेकिन आज तक किसी को मिला भी नहीं।

वस्तुतः दुनिया में सुख है ही नहीं तो मिले कैसे? तो लोगों ने सोचा, कोई बात नहीं। दुनिया के प्राणी-पदार्थों में न सही, जब भगवान मिल जायेगा तब तो सुख मिलेगा! फिर तो भगवान, देवी-देवताओं के चक्कर काटना शुरू होता है। उसको पाने के लिए ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों पर, दूर-दूर तीर्थों में खोजना शुरू हो जाता है। उसकी प्राप्ति के लिए कठिन से कठिन तपस्या करते हैं। और कितने लोग दर्शन पाने की सनक में आग में कूदकर जल मरे, समुद्र में डूब मरे। क्या सारा सुख ईश्वर-परमात्मा ने बटोरकर अपने पास छिपा रखा है, जब उसकी खुशामद करेंगे तो देगा। और यदि उसका मन होगा तो देगा वरना नहीं भी देगा।

प्रकृति का शाश्वत नियम है जो चीज मिलती है वह छूटती अवश्य है। फिर ऐसा सुख मिलने से फायदा ही क्या? लोग सोचते हैं अच्छा खाने को मिल जाये तो बड़ा सुख मिलेगा। परन्तु ऐसा क्षणिक सुख एक सीमा तक है। जो आनंद पहले ग्रास में आता है वह दूसरे में नहीं, वह निरंतर घटता जाता है और एक समय ऐसा आता है कि रुक जाना पड़ता है। यदि कोई जबरदस्ती करे तो दुखी होने लगते हैं। सभी सुविधाओं से युक्त अच्छा मकान हो। उसमें कुछ समय तक तो बड़ा आनन्द, बड़ा सुख मालूम होगा। और उसकी देखरेख भी खूब करेंगे। परन्तु धीरे-धीरे जब पुराना हो जाता है, फिर ध्यान नहीं देते, क्योंकि उसमें सुख कम हो गया। यदि कोई कहे तुम्हें इसी मकान में रहना है, बाहर नहीं जा सकते तो वही मकान काटने लगेगा, ऊब जायेंगे। कोई प्रेमी व्यक्ति गले मिले तो बड़ा सुख लगता है परन्तु वह गला छोड़े ही न तो हम दुखी हो जायेंगे। हम मिलने में जितना ही आनंदित, हर्षित और सुखी होते हैं, वियोग में उतना ही कष्टित, पीड़ित और दुखी होते हैं।

कभी-कभी कीमती और अच्छी वस्तुओं के मिलने पर भी सुख नहीं मिलता। जैसे हमें बहुत तेज भूख लगी हो और कोई हमारे सामने एक किलो सोना लाकर रख दे तो क्या उसमें सुख मिलेगा? उत्तर होगा नहीं। क्यों? क्योंकि सोना खाया नहीं जा सकता। अगर बहुत तेज

प्यास लगी हो, कोई एक लीटर पेट्रोल लाकर रख दे, तो क्या उसे पी लेंगे! तो जो जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक है उसके मिलने पर तृप्ति होती है, सुख मिलता है, वह भी क्षणिक। हमें पूरी दुनिया का राजा बना दिया जाये और खाने-पीने को कुछ न दिया जाये तो क्या उस सर्वोच्च पद पर आसीन होकर हमें आनंद मिलेगा? सुख मिलेगा? किसी को सुन्दर पत्नी मिल जाये, प्यारे-प्यारे बच्चे हों, बड़ा आनंद आयेगा। लेकिन कब तक। बड़े होने पर बच्चे अपने मन के अनुसार करेंगे। पत्नी की सुन्दरता क्षीण होगी, फिर उसके मिलन का सुख धीरे-धीरे घटता चला जायेगा।

एक पौराणिक कथा कही जाती है। इन्द्र उर्वशी को पाना चाहता था। वह एक थाल में हीरे-मोती भरकर उर्वशी के पास गया। उर्वशी राजी नहीं हुई तो इन्द्र दूसरे दिन एक थाल सोने से भरकर ले गया। उर्वशी ने फिर मना कर दिया। तीसरे दिन एक थाल चांदी के सिक्के लेकर गया। तो उर्वशी ने इन्द्र से कहा, जब तुम एक थाल हीरे-मोती लाये तो मैंने मना कर दिया, तो तुम्हें दो थाल हीरे-मोती लाना चाहिए था। लेकिन तुम तो उलटा कर रहे हो। दूसरे दिन सोने के सिक्के और आज चांदी के सिक्के लाये हो, कीमत घटते ही चले जा रहे हो। इन्द्र ने कहा, तुम्हारी जो जवानी परसों थी वह कल नहीं रही। जो कल थी वह आज नहीं। निरन्तर तुम्हारी सुन्दरता और जवानी घटती जा रही है, इसलिए तुम्हारी कीमत भी घटती जा रही है। जो वैवाहिक सुख और आकर्षण शुरू में रहता है क्या वह वैसे ही बना रहता है! बल्कि आकर्षण घटता जाता है। वस्तुओं और प्राणियों का संयोग एक दिन वियोग में बदल जाता है।

किसी व्यक्ति को दुनिया के सारे सुख दे दिये जायें और वह करोड़ों-अरबों वर्षों तक भोगता रहे तो क्या उसे तृप्ति मिल जायेगी? किसी ने कहा है—

*सुख तो केवल नाम मात्र है, दुनिया दुख की खान है।*

*मन माना सुख मिले जिसे वह, कौन कहां इंसान है।।*

कोई सोचे जब हम स्वर्ग में जायेंगे तब तो सुख मिलेगा ही। लोक कहावत के अनुसार वहां भी पुण्य

कर्मों के आधार पर सुख मिलता है। अंततः पुण्य क्षीण होने पर फिर मृत्युलोक में आना पड़ता है। वस्तुतः असली स्वर्ग है अपने को पा जाना! स्व-खुद, ग-गमन करना। स्व में, खुद में लौट आना यही स्वर्ग है। लेकिन हम विषयजनित सुख के पीछे दौड़ लगा रहे हैं। इसलिए असली सुख-शांति की प्राप्ति नहीं हो पाती है। सद्गुरु कबीर ने कहा है—

दौड़त दौड़त दौड़िया, जहं तक मन की दौड़।  
दौड़ थका मन थिर भया, वस्तु ठौर की ठौर॥

हम सुख बाहर खोजते हैं। यदि अपने दोषों-विकारों को छोड़ दें तो हम खुद सुख के सिंधु हैं। अपनी दृष्टि बदल लें तो परेशानी है ही नहीं। हम परेशान तब होते हैं जब खुद को दूसरों से ज्यादा अच्छा समझने लगते हैं। मानव जीवन की खूबसूरती है दूसरों की अच्छाइयों को देखना और एक दूसरे की गलतियों को बरदास्त करना। यदि हम सर्वथा दोषरहित व्यक्तियों की तलाश करते रहेंगे तो निराशा ही हाथ आयेगी।

एक मूर्तिकार जब पत्थर की मूर्ति बनाता है तो बाहर से मूर्ति लाकर नहीं डालता है बल्कि उस पत्थर से गलत अंश छील-छालकर निकाल देता है, मूर्ति अपने आप प्रकट हो जाती है। जैसे वट के बीज में वटवृक्ष पहले से विद्यमान रहता है, अनुकूल वातावरण मिलते ही प्रकट हो जाता है।

लोग कहा करते हैं हम बहुत दुखी हैं। आखिर उन्हें दुखी किसने किया? हम ऐसे मूढ़ हैं कि जानबूझकर दुख खरीदते हैं। जरा सोचिये, जो लोग खरीदकर सिगरेट पीते हैं, शराब पीते हैं, गांजा-भांग, तम्बाकू, गुटका आदि अनेक प्रकार के नशा करते हैं क्या वे जानबूझकर दुख नहीं खरीदते हैं? कोई कहे कि मैं तुम्हें सौ रुपये दूंगा, पत्थर से मेरा सिर फोड़ दो। तो लोग कहेंगे, यह पागल हो गया है। क्या नशेबाज लोग पैसे देकर अपना सिर नहीं फोड़वाते हैं!

महाभारत के शांतिपर्व में श्रीकृष्ण जी से नारद जी कहते हैं, एक दुख होता है बाहर का, और एक दुख होता है भीतर का। जैसे हम पंडाल में बैठे हैं और

पंडाल हमारे ऊपर गिर जाये और चोट लग जाये। यह दुख बाहर का है; इसमें हमारा प्रत्यक्ष दोष नहीं है। लेकिन हमने किसी को गाली दी, उसने थप्पड़ जड़ दिया; यह हमारा अपना बनाया दुख है, भीतर का दुख है। प्रकृति का नियम है जो हम देते हैं वही लौटकर मिलता है। दुख देंगे दुख मिलेगा, सुख देंगे सुख मिलेगा। कहा गया है—

चार वेद छह शास्त्र में, बात मिली हैं द्योय।  
दुख दीन्हें दुख होत है सुख दीन्हें सुख होय॥

बाहर हम जीवनभर सुख खोजते रहेंगे, मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, गुरुद्वारे में दूँढते रहेंगे; लेकिन सुख गूलर का फूल ही रहेगा। हां, यदि अपने जीवन को निर्विकार और निष्काम भाव से व्यतीत करें; स्वयं चैन से रहें और दूसरों को चैन से रहने दें, जब यह सहजभाव और कृतज्ञता का भाव प्रगट हो जायेगा तो स्वाभाविक हमारा जीवन सुखमय हो जायेगा। किसी ने कहा है—

सारा जहां उसी का है जो मुस्कराना जानता है।  
रोशनी उसी की है जो शमां जलाना जानता है॥  
हर जगह मंदिर मस्जिद और गुरुद्वारे हैं,  
सुख उसी को मिलता है जो सर झुकाना जानता है॥

आदमी कहां-कहां सुख दूँढता है लेकिन मिलता कहीं नहीं है। फिर सुख कैसे और कहां मिलेगा? सद्गुरु अभिलाष साहेब जी के शब्दों में समझ सकते हैं—

सुख दूँढ रहे तुम बन में, गिरि गह्वर के कंदर में।  
पर नहीं पता तू पाया वह है तेरे अंदर में॥  
तेरे ही अंतस्थल में सुख सागर लहराता है।  
पर तू विपन्न हो कर दर दर ठोकर खाता है॥  
घर में वन में मंदर में चौराहों बाजारों में।  
सेठों के गोदामों में नृप के कोषागारों में॥  
पूरब में व पश्चिम में नभ के तारों तारों में।  
सुख शांति नहीं पाओगे मन्दिर ठाकुरद्वारों में॥  
जब मन विषयों से मुड़कर अपने में आ जायेगा।  
सब चंचलता को तजकर स्थिरता को पायेगा॥  
तब सुख का स्रोत खुलेगा जो है अनंत अपने में।  
जिसको पाकर फिर मन को नहीं होगा दुख सपने में॥

## भंवरजाल बगुजाल है

( परम पूज्य गुरुदेव श्री अभिलाष साहेब जी द्वारा कबीर संस्थान, इलाहाबाद में ध्यान शिविर के अवसर पर दिनांक 28 08 2005 को दिया गया प्रवचन।—प्रस्तुति श्री रामकेश्वर जी )

( गतांक से आगे )

दूसरा बगुजाल है। वह वाणी का जाल है। धर्म के परदे में रहकर समाज को भ्रम में डालना बगुजाल है। अनेक मान्यताएं, अनेक कमजोरियां बगुजाल है। लोग कहीं चले और कोई छींक दिया तो मान लेते हैं कि अशुभ हो गया। यह नहीं सोचते हैं कि उसकी नाक में फरक आ गया तो छींक आ गयी। उसमें अशुभ क्या हो गया। पुरुष का दाहिना और स्त्री का बायां अंग फड़का तो शुभ और कहीं स्त्री का दाहिना और पुरुष का बायां अंग फड़का तो अशुभ हो गया। बेकार की बात है! इसमें कुछ नहीं धरा है। चाहे जो अंग फड़के कुछ चिंता या शंका मत करो। यह तो वायुविकार है। वायुविकार से अंग फड़कते हैं। यह भी माना जाता है कि छिपकली ऊपर गिर जाती है तो अशुभ होता है। पक्षी घर में घुस गया तो अशुभ हो गया। कुत्ता रोने लगा तो अशुभ हो गया लेकिन यह सब कुछ नहीं है।

दिशाशूल आपको लगता है। लोगों ने मान रखा है—“मंगल बुध उत्तर दिश काला”—मंगल और बुध को उत्तर की दिशा में जाओगे तो काल है लेकिन मंगल और बुध को भी इलाहाबाद से फैजाबाद के लिए ट्रेनें और बसें चलायी जाती हैं और सबका एक्सीडेंट नहीं होता है। इसी प्रकार अमुक दिन को अमुक तरफ जाने से दिशाशूल होता है। अगर यही सत्य है और अगर यही माना जाये तब तो एक कानून बना देना चाहिए कि जिस दिन जिधर दिशाशूल हो उस दिन उधर ट्रेनें और बसें न जायें लेकिन जाती हैं और कुछ नहीं होता है। इसलिए दिशाशूल बिलकुल झूठ है।

किसी के लड़का पैदा हुआ तो पंडित लोग कहते हैं कि यह सत्तइसा में पड़ गया, मूलगडंत में पड़ गया। यह भी कितना बड़ा प्रपंच है और इतना ही नहीं, इस समाज में तो न जाने कितना-कितना प्रपंच पैदा किया गया है। और यह भी आप जान लीजिए कि जो अपने

लड़के के जन्म की ग्रह-दशा पंडित को दिखाने जाते हैं उन्हीं का लड़का मूल में पड़ता है। जो पंडित को दिखाने नहीं जाते उनका लड़का मूलगडंत में नहीं पड़ता। मुसलमान और ईसाई पंडित को नहीं दिखाते हैं इसलिए उनका लड़का मूलगडंत में नहीं पड़ता। हिन्दुओं में ही जो सामान्य वर्ग के लोग हैं वे नहीं दिखाते तो उनका लड़का मूलगडंत में नहीं पड़ता है। जो दिखाये उनका लड़का सत्तइसा में पड़ गया। इसलिए सबसे बड़ा सत्तइसा और मूलगडंत तो पंडित ही है। इसके पास जाओगे तो यह भटका देगा।

कर्मकाण्डी कभी नहीं चाहते हैं कि दुनिया में ज्ञान फैले और केवल ब्राह्मण ही कर्मकाण्डी नहीं हैं किंतु हर सम्प्रदाय में कर्मकाण्डी लोग हैं। कर्मकाण्डी लोग यह चाहते हैं कि आदमी को ज्ञान तो हो लेकिन थोड़ा हो जिससे उनकी बात को वह समझ ले और धर्म-कर्म करे। दान-पुण्य करने की बुद्धि उसमें आ जाये लेकिन ज्यादा बुद्धि न हो क्योंकि ज्यादा ज्ञान हो जायेगा तो भ्रम खतम हो जायेगा और वह कर्मकाण्ड से अलग हो जायेगा।

पंडित कह देता है कि आपके ऊपर ग्रह टेढ़ा है। ग्रह आकाश में है तो वह आपके ऊपर टेढ़ा कैसे है और आपके ऊपर टेढ़ा है तो हमारे ऊपर सीधा कैसे है। सूरज खुले आकाश में चमक रहा हो तो आकाश के नीचे जितने लोग बैठेंगे सबको बराबर गर्मी लगेगी। किसी को लगे और किसी को न लगे ऐसा कैसे होगा। इसलिए ग्रह टेढ़ा है यह एक बकवास है। चलो मान भी लें कि ग्रह टेढ़ा है तो शांत कैसे होगा। कर्मकाण्डी पंडित लोग कहते हैं कि पूजा-आराधना से शांत होगा। कितनी झूठी बात है। एक बल्ब जल रहा हो उसको कोई पूजा करके बुझा दे तो मान लिया जाये कि पूजा करके ग्रह भी शांत किया जा सकता है। जब एक

साधारण बल्ब भी पूजा के बल पर बुझा नहीं पाते हैं तब यह कैसे कहा जाये कि पूजा करके ग्रह शांत हो जायेगा। बल्ब को बुझाने के लिए स्वीच आफ करना पड़ेगा, वह पूजा-पाठ से नहीं बुझेगा। किसी पर ग्रह सीधा-टेढ़ा नहीं होते। यह तो लोगों को ठगने के लिए पंडितों का बनाया हुआ एक प्रपंच है। इस प्रपंच से आप निर्भय रहें।

लोग हाथ की रेखा दिखाते हैं और उसमें अपने को ठगाते हैं। इसलिए किसी को हाथ की रेखा कभी मत दिखाओ। हाथ से काम करो। अंगुलियों में अंगुठियां पहनी जाती हैं और माना जाता है कि इससे टेढ़े ग्रहों की शांति होगी। यह भ्रम अशिक्षितों में कम है लेकिन जो शिक्षित लोग हैं उनमें बहुत है और जो धनी हैं, शिक्षित हैं और नेता हैं, उनका तो पूछना ही क्या है। उनके सब अंगुलियों में एक-एक और किसी-किसी में दो-दो अंगुठियां रहती हैं। यहीं इलाहाबाद के एक बड़े नेता थे। जब एक साधु ने उनकी अंगुलियों में नौ अंगुठियां देखी तो कहा कि ये नौ अंगुठियां आप किसलिए पहन रखें हैं। उन्होंने कहा कि क्या आप नहीं जानते कि ग्रह नौ हैं। इनकी शांति के लिए मैंने इन अंगुठियों को पहन रखा है। आगे चुनाव आ रहा है। पंडित बताये हैं कि इन अंगुठियों को पहने रहो। ये चुनाव में तुम्हारी मदद करेंगी लेकिन वे महाशय चुनाव हार गये और नवग्रहों की जो अंगुठियां थीं वे उनकी कुछ मदद नहीं कर सकीं। सब फेल हो गयीं।

अंगुलियों में अंगुठी पहनने से उनमें गंदगी जमती है और उसी से भोजन करना होता है। देवियों को तो उसी से आटा गूंधना पड़ता है। उसी से सब कुछ करना रहता है। इसलिए अंगुठियां बिलकुल नहीं पहननी चाहिए। नाखून बड़े-बड़े नहीं रखने चाहिए। नग और धातु पहनने की बड़ी महिमा है। इनकी महिमा शास्त्रों और वेदों तक में लिख डाला गया है। अथर्ववेद में बहुत ज्यादा है।

लोग कहते हैं कि वेद में ऐसा लिखा है लेकिन वेद में तो हर प्रकार की बात लिखी है। आपको निर्णय करना पड़ेगा कि कौन-सी बात उचित है और कौन-सी बात उचित नहीं है। यह मान लेना कि वेद में जो लिखा है वह सब का सब सच है, शास्त्र में जो कुछ लिखा है

वह सब का सब सच है, धोखा है। उसमें सब सच नहीं है। उसमें अंधविश्वास की बातें भी काफी भर गयी हैं। इसलिए निर्णय करके विचार करो। वेद के ऋषि ने स्वयं आज्ञा दी है कि वेद वाणी पर विचार करके उसको मानो। उन्होंने कहा है—

*सक्तुमेव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।*

*अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥*

ऋषि कहते हैं कि जहां विवेकवान मन से, विवेक से, वाणी को चलनी से सत्तू छानने की तरह छानते हैं वहीं कल्याणकारी लक्ष्मी निवास करती है और वहीं मित्र लोग मित्रता के भेद को जानते हैं। इस प्रकार ऋषि ने स्वयं कहा कि जैसे सत्तू को छाना जाता है वैसे तुम वाणी को छानो।

साहेब का दोहा तो आप लोग जानते ही हैं—

*साधु ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय।*

*सार सार को गहि रहे, थोथा देइ उड़ाय॥*

साधु वही है जो भूसीमिश्रित चावल को फटक दे जिससे भूसी उड़ जाये और चावल रह जाये। असार को छोड़ दे और सार को ग्रहण कर ले। दुनिया की सारी किताबें मनुष्य की रचनाएं हैं। दुनिया के सारे महापुरुष केवल महापुरुष हैं। दुनिया के सारे ग्रंथ, सारे पंथ मनुष्य के चलाये हैं। कोई किताब, कोई महापुरुष, कोई सम्प्रदाय अलौकिक नहीं है। इस अलौकिकता का चक्कर डालकर धार्मिक लोगों ने बड़ा विघटन किया है। वे माने हैं कि हमारा सम्प्रदाय अलौकिक है और आपका सम्प्रदाय लौकिक। जो लौकिक है वह कल्याण नहीं कर सकता अलौकिक ही कल्याण करेगा। हमारा सम्प्रदाय अलौकिक है। हमारा महापुरुष ईश्वर का दूत है या ईश्वर का अवतार है। हमारी किताब ईश्वर की वाणी है। दूसरे की किताब ईश्वर की वाणी नहीं है। यह बड़ी चालबाजी है। धूर्त लोगों के द्वारा कहा जाता है दूसरे की किताब ईश्वर की वाणी तो है लेकिन अब उसका कानून मंसूख कर दिया गया है। अब हमारी किताब का ही कानून चलता है। इस प्रकार बड़ी-बड़ी चालबाजियां हैं और यही बगुजाल है।

करीब-करीब हर सम्प्रदाय वाले स्वर्ग और मोक्ष के ठेकेदार बने बैठे हैं। वे कहते हैं कि केवल हमारे सम्प्रदाय से मोक्ष है दूसरे से नहीं। लेकिन आप यह



जान लीजिए कि मोक्ष और स्वर्ग किसी सम्प्रदाय की वस्तु नहीं है किंतु व्यक्तिगत वस्तु है। मन प्रेम से पूर्ण हो, उसमें तनाव या राग-द्वेष न हो तो यही स्वर्ग है। जिन मनुष्यों की कुण्डली में हम रात-दिन बैठे हैं, जी रहे हैं उनके प्रति शुद्ध प्रेम होना चाहिए। निष्कपट हृदय से निर्मल बरताव हो यह स्वर्ग है और मन के विकार एकदम मिट जायें यही मोक्ष है और यह व्यक्तिगत विषय है। यह पंथ और सम्प्रदाय का विषय नहीं है। अमुक पंथ और अमुक सम्प्रदाय से मोक्ष मिलेगा ऐसा कहने वाले समाज को धोखा देते हैं।

आजकल बगुजाल बहुत फैला है। आजकल भगवान के दर्जनों अवतार घूमते हैं। एक बार मैं कलकत्ता में था। करीब तीस-चालीस वर्ष पुरानी बात है। एक मास्टर मेरे पास आने लगे थे। उनकी उम्र करीब चालीस-पैंतालीस वर्ष की थी। वे आये तो पहले मुझे खुश करने के लिए कहे कि साहेब, मैं आपकी किताबें पढ़ता हूँ। आपके विचारों को मानता हूँ। आपकी किताबों में सच्चा ज्ञान है।

मैंने उनसे कहा कि ठीक है भाई, बहुत अच्छा है। खूब पढ़ो। जब आते-जाते कुछ दिन बीत गये तब एक दिन वे कहे कि महाराज, परमात्मा का अवतार हो चुका है। मैं भी भोला बनकर पूछा कि कहां हुआ है। मुझे भी बताओ ताकि मैं भी उनके दर्शन कर लूँ और मेरा जीवन भी कृतार्थ हो जाये। वे बताये कि हावड़ा में हुआ है। मैंने पूछा—उस परमात्मा की उम्र कितनी है। तब वे चुप हो गये।

फिर मैंने जोर देकर पूछा कि बताओ भाई कि उनकी क्या उम्र है। जब वे देह धरे होंगे तो उनकी कुछ उम्र तो होगी ही। रामायण में लिखा है उनषोडश वर्ष यानी सोलह वर्ष से कुछ कम उम्र थी तब श्रीराम विश्वामित्र के साथ उनके यज्ञ की रक्षा के लिए गये हैं और फिर जनक के यहां गये हैं वहां उनका विवाह हुआ है। वहां ऊनषोडश वर्ष कहा गया है। उसी प्रकार आपके परमात्मा भी यदि अवतार लिये हैं तो उम्र तो बताना ही पड़ेगा। तब वे उम्र बताये। फिर मैंने उनको बहुत डांटा और कहा—कैसा गोबर-गणेश है रे तू! तू भला क्या अध्यापक है! तो दर्जनों अवतार आजकल हैं।

कितने लोग चमत्कारी बाबा हैं। वे मुर्दे को जिला देते हैं। रोग को दूर कर देते हैं। वे स्वयं तो रोगी रहते हैं लेकिन दूसरे का रोग दूर कर देते हैं। उनके लड़के-बच्चे उनके कहे में नहीं हैं लेकिन वे सबको सिद्धि देते घूमते हैं। चमत्कार सब का सब झूठ है। लोग मानते हैं कि महाराज की कृपा से 'यह' हो गया, 'वह' हो गया। महाराज जी की कृपा से रोग दूर हो गया। यह सब केवल भ्रम है। हुआ तो ऐसा ही होगा कि कोई महाराज नामधारी ने अच्छी राय दे दिया और उस पर आप चले तो आपका रोग अच्छा हो गया। आप संयम-नियम से चलते हैं तो आपका रोग दूर हो ही जायेगा। क्या छू-मंतर से कहीं रोग दूर होगा? छू-मंतर से रोग दूर नहीं होता है।

समाज में ऐसे धूर्त लोग होते हैं और इन धूर्तों के कुछ एजेन्ट होते हैं। ये एजेन्ट लोग प्रचार करते हैं और लोगों को फंसाते हैं। इनके जाल में फंसने वालों में तो प्रायः सभी वर्ग के लोग होते हैं लेकिन शिक्षित समाज का बड़ा तबका इनके जाल में फंसता है। जहां-जहां गुरुघंताल हैं, उनके चले ज्यादातर धनी, शिक्षित और अफसर वर्ग से होते हैं और आम जनता भी होती है।

भ्रांति से मुक्त रहो। भूत-प्रेत नाम की चीज कहीं नहीं है। टोनही कहीं नहीं है। चुड़ैल कहीं नहीं है। नजर लगना बिलकुल झूठ है। लोग कहते हैं कि अमुक को नजर लग गयी। ऐसे अनेक अंधविश्वास हैं। कबीर साहेब की वाणी को पढ़ो। सब अंधविश्वास छिलके की तरह उड़ जायेगा।

ब्रह्मराक्षस लोगों को लगता है। ब्राह्मण परिवार में से कोई अगर पेड़ से गिरकर मरा, पानी में डूब कर मरा, आग में जलकर मरा तो जब वह प्रेत होता है तब उसको ब्रह्मराक्षस कहते हैं। वर्णव्यवस्था से भूत और प्रेत भी नहीं बचे हैं। उनमें भी वर्णव्यवस्था कह दिया गया है। अगर ब्राह्मण प्रेत होगा तो वह साधारण प्रेत नहीं रहेगा, ब्रह्मराक्षस रहेगा। वहां भी उसकी क्वालिटी ऊंची रहेगी। इस प्रकार कैसे-कैसे प्रपंच करके समाज को भटकाया गया है।

भूत-प्रेत सब झूठे हैं, शकुन-अपशकुन सब झूठे हैं। दिशाशूल और भद्रा आदि बिलकुल झूठ है। ग्रहों की

शांति के लिए अंगुठियां पहनना बिलकुल निरर्थक है। अंधविश्वास से अपने को बिलकुल ऊपर उठाओ। वेदों में देव का अर्थ है प्राकृतिक शक्ति। चांद, सितारे, पृथ्वी, सूरज, अग्नि, वायु ये सब देव हैं। यास्क मुनि ने तीन ही देव माना है। द्युलोक का सूर्य, अंतरिक्ष का वायु और पृथ्वी का अग्नि—ये ही तीन देवता हैं और तीनों जड़ हैं। सूर्य जड़ है, वायु जड़ है और अग्नि भी जड़ है।

दिवि वह है जो चमके और जो चमके उनको देवता कहा गया। उनका ज्ञान होना चाहिए और ज्ञान करके विवेक से उनका उपयोग होना चाहिए। ठंडी, गर्मी और पानी इन सबको जानकर विवेकपूर्वक उनका उपयोग करो। जोर से पानी बरसने लगे और आपका कुछ नुकसान होने लगे तो आप प्रार्थना शुरू करो कि हे वरुण देवता! पानी बरसना बन्द हो जाये तो पानी बरसना बन्द न होगा। चाहे कितनी भी प्रार्थना करो कुछ फल नहीं होगा क्योंकि पानी बरसने का कारण जड़ है और जब तक वह कारण रहेगा तब तक पानी बरसेगा।

इसके उलटे अगर पानी नहीं बरस रहा है, सूखा पड़ गया है। इन्द्र भगवान को कितना भी मनाओ कोई फल होने वाला नहीं है। जब प्राकृतिक नियम ठीक होंगे तब पानी बरसेगा। वह आटोमेटिक है, स्वतः है। जब सूखा पड़ने लगता है तब हवन चलने लगता है, प्रार्थनाएं चलने लगती हैं। ईश्वर को खुश करने के लिए नमाज-प्रार्थना ज्यादा बढ़ा दी जाती हैं। मालूम होता है कि ईश्वर सो गया है और उसकी प्रार्थना की जाती है कि जागो और पानी बरसाओ। आजकल के वैज्ञानिक युग में भी यह कितना अंधविश्वास है।

वाणी जाल, भ्रांति का जाल बगु जाल है। जो उपासनीय और सेवनीय देवी-देवता हैं वे प्राणी हैं। ये नारियां ही देवियां हैं और ये पुरुष ही देवता हैं। इनका आदर करो। आत्मा ही परमात्मा है। इनसे अलग खोजकर कहीं परमात्मा नहीं मिलेगा। इसलिए निभ्रांत दृष्टि अपनायें। बच्चा पैदा हो तो दिन और तिथि लिख लें। इतना काफी है। जन्मकुण्डली मत बनवाइये। जन्म कुण्डली बनवायेंगे तो प्रपंच में पड़ेंगे क्योंकि पंडित लोग उलझायेंगे और आप उलझ-उलझकर परेशान होंगे। पंडित लोग जो जन्मकुण्डली बनाते हैं वह जन्मकुण्डली नहीं है वह तो शोककुण्डली है। सब

जन्मकुण्डली भ्रांति है और भ्रांति से बचना चाहो तो निर्भय ज्ञान करो। आपकी त्रुटियों को छोड़कर आपको तकलीफ देने वाला दुनिया में कोई है नहीं और आपके सद्गुणों के अलावा आपको सुख देने वाला भी कोई है नहीं।

संग और कुसंग की सावधानी आनी चाहिए। कुसंग से बचें। कुसंग से दुर्बुद्धि और तकलीफ बढ़ सकती है। शुद्ध संग करें, उससे आपको सद्बुद्धि मिलेगी, सद्प्रेरणा मिलेगी और अपना रास्ता हितकर होगा लेकिन करना और कराना तो आपको है। वह शिक्षा और उपदेश सही नहीं कहा जा सकता जो आदमी को परावलम्बी बनाये। शिक्षा वही सही है जो आदमी को स्वावलम्बी बनाये। शास्त्रों में दोनों प्रकार की बातें भरी हैं।

शास्त्रों में यह भी लिखा है कि भगवान सबको नचा रहे हैं। “सबही नचावत राम गोसांई”—राम गोसांई सबको नचाते हैं लेकिन राम गोसांई भला सबको या किसी को भी क्यों नचायेंगे। नचाने वाला अच्छा नहीं माना जाता है। नचाने का मतलब है परेशान करना। और जो लोगों को परेशान करे वह अच्छा नहीं माना जाता। कुछ ऐसे आदमी होते हैं जिन्हें दूसरों का काम बिगाड़ने में, दूसरों को परेशान करने में आनंद आता है। ऐसे लोगों को बिगाड़ानन्द कहा जाता है। वे सबको परेशान करते हैं। उनको पूजा चढ़ा दो तो खुश। नहीं तो नाखुश। उसी प्रकार क्या ईश्वर भी बिगाड़ानन्द है कि जब उसको आप घूस दो तब वह आप पर खुश हो, नहीं तो नाराज होकर आपको परेशान करे। ईश्वर बिगाड़ानन्द नहीं है। ईश्वर किसी को नचाता नहीं है। लोग स्वयं नाचते हैं। स्वयं का अज्ञान है लेकिन पंडित और महात्मा यह विवेक नहीं देते हैं। वह तो उनकी वाणी में कहीं रेखा की तरह बात आ गयी तो आ गयी। उसका वे विस्तार नहीं करते हैं। वे विस्तार करते हैं—भ्रांति का, भ्रम का और धोखा का।

ऐसे पंडित और महात्मा नामधारी कहते हैं कि प्रभु ही सब कर रहा है। प्रभु की माया बड़ी अद्भुत है। भगवान ही सबको नचा रहा है। “सबहिं नचावत राम गोसांई”—यही रट लगाये हैं। वे सोच भी नहीं पाते हैं कि जिसको हम परमात्मा कहते हैं, सच्चिदानन्द कहते हैं उसको खुराफाती भी मानते हैं और कहते हैं कि वह

नचाता है। खुराफाती आदमी ही किसी को परेशान करता है। जो खुराफाती नहीं होगा वह किसी को क्यों परेशान करेगा लेकिन बगुजाल, वाणी जाल का इतना विस्तार है कि पंडित और महात्मा स्वयं उसमें उलझे हैं। पंडित जी, ज्ञानी जी, महात्मा जी, स्वामी जी, पादरी जी, कोई भी हो किसी एक की बात नहीं है बल्कि सब इस बगुजाल में उलझे हैं। निर्णय नहीं किया गया है क्योंकि भ्रम फैलाने में लाभ ज्यादा है। समाज को धमका-धमका कर उनकी मानसिक दुर्बलता को बढ़ा-बढ़ाकर ही तो पुजवाया जा सकता है।

ऐसे-ऐसे सम्प्रदायी महात्मा मुझे मिले जिन्होंने कहा कि महाराज, आप सब बातें गृहस्थों में साफ-साफ कह देते हैं, यह ठीक नहीं है। उनका मतलब है कि गृहस्थों को भ्रमजाल में रखना चाहिए, भ्रम में रखना चाहिए तब तो उनसे कुछ वसूल हो सकता है।

कितने महात्मा भी समाज को माया जाल में फंसाये रखते हैं। गृहस्थों को वे मन से दुर्बल बनाये रखते हैं जिससे वे ठीक से दान करें। एक महात्मा थे जो अच्छे विद्वान भी थे। वे जब मेरी पुस्तक पढ़े तो उन्होंने कहा कि इस महात्मा को पैसा नहीं मिलेगा। जिस लक्षणार्थ में उन्होंने कहा उस अर्थ में बात सही भी है। मतलब है कि ज्यादा पैसा नहीं आयेगा। पैसा तो यहां भी आता है। यहां का जो काम हो रहा है वह पैसे से ही तो हो रहा है लेकिन यहां की सब बातें खरी हैं और उसमें जो मिल जाता है वह बहुत है। भला, यह भी कोई संतत्व है, यह भी कोई पांडित्य है कि पैसा के लिए, भीड़ के लिए, सम्मान के लिए, आदमी को धोखा में रखा जाये। यदि यही सब किया जाये तब ज्ञान का क्या अर्थ होगा।

इसलिए बड़ा-बड़ा जाल है और उसमें सारा संसार उलझा है। वह एक नहीं है अनेक है। ब्राह्मणों के पुरोहितों का खण्डन तो हम कर देते हैं लेकिन कहां पुरोहित नहीं है। जहां पुरोहिताई का खण्डन हुआ उसी मार्ग में पुरोहित बन गये। बीजक के मंत्रों से सांप झाड़ने वाले हो गये। साहेब ने बीजक किसलिए कहा है और उसको मंत्र में लगा रहे हैं।

“भंवर जाल बगुजाल है, बूड़े बहुत अचेत”—मोटी माया का मोह बहुत बड़ा है। इसमें घूम-घूमकर सारा संसार डूब रहा है। झीनी माया, वाणी जाल का विस्तार, भ्रांतियां इसी में सारा संसार डूब रहा है।

“कहहिं कबीर ते बांचिहैं, जाके हृदय विवेक”—सद्गुरु कहते हैं कि इससे तो वही बचेगा जिसके हृदय में विवेक होगा। विवेक ऐसी कतरनी है जो काटकर सारे कूड़े-कचरे को अलग कर देती है और साफ-सुथरा कर देती है। विवेक में बल है। मनुष्य की विशेषता विवेक में है। मनुष्य क्यों है—मनन के कारण। “मननात् मनुष्यः”—मनन करने के कारण मनुष्य है।

जानवर मनन नहीं करता। वह तो बस याद करता है। वह घर की याद करता है, बिल की याद करता है, घोंसले की याद करता है। वह वहां चला जाता है और सो लेता है। वहां अपने बाल-बच्चों को पाल-पोष लिया बस इतना ही याद होता है। मनन वह नहीं कर पाता है। मनुष्य में मनन की शक्ति है, सोचने की शक्ति है। यह सोचने की शक्ति ही विवेक की शक्ति है। इसी को नीर-क्षीर विवेक कहते हैं।

संसार की सारी परम्पराओं का आदर होना चाहिए। सारे ग्रंथों का आदर होना चाहिए। सारे महापुरुषों का आदर होना चाहिए लेकिन विवेक का निरादर नहीं होना चाहिए। विवेक को सबसे ऊपर रखो। विवेक से ही कोई बात मान्य है। बड़े-बुजुर्ग की बात भी तभी माननीय है जब उनकी बात विवेकयुक्त हों। शास्त्र आदरणीय हैं लेकिन शास्त्र की बात विवेकपूर्ण होने ही से आदरणीय है। “नह्यागमा सहस्रं घटं पटयितुम् ईष्टे” वाचस्पति मिश्र जी कहते हैं कि हजारों वेदवचन भी घड़े को कपड़ा नहीं बना सकते। वेद में लिखे होने से घड़ा क्या कपड़ा बन जायेगा। जो है सो है।

इस प्रकार शास्त्रों में भी कबीरी स्वर हैं। कबीरी स्वर है खरा निर्णय और इसकी रेखा सब जगह मिलती है लेकिन प्रपंच इतना फैला है कि वह दब जाता है।

हमें और आपको चाहिए कि हम और आप निष्पक्ष होकर नीर-क्षीर का विवेक करें। कारण-कार्य व्यवस्था और विश्व के शाश्वत नियम पर ध्यान दें, अलौकिकता का भ्रम छोड़ें, सच्चे ज्ञानमार्ग में चलें और सच्ची भक्ति को अपनायें, सच्ची उपासना को अपनायें तब यह जंजाल कटेगा। इन्हीं शब्दों के साथ मैं अपनी वाणी को विराम देता हूँ।